ISSN : 2456-8856

पंजीयन संख्या RNI No.: MPHIN/2002/9510 डाक पंजीकृत क्रमांक मालवा डिवीजन/204/2021-2023 उज्जैन (म.प्र.)

UGC Care Listed and Peer Reviewed Referred Bilingual Monthly International Research Journal

प्रेषण दिनांक 30 पृष्ठ संख्या 28

आश्वस्त

वर्ष 25, अंक 227 सितम्बर 2022

सावित्रीबाई फूले

भारत की प्रथम महिला शिक्षिका

"स्वाभिमान से जीने के लिए पढ़ाई करो।
पाठशाला ही इंसानों का सच्चा हितैषी है।"

संपादक – डॉ. तारा परमार

भारती दलित साहित्य अकादमी मध्यप्रदेश, उज्जैन की अन्तर्राष्ट्रीय मासिक शोध पत्रिका

वर्ष : 25 अंक 227
सितम्बर 2022

आश्वस्त

(सन् 1983 से निरंतर प्रकाशित)

RNI No.: MPHIN/2002/9510
ISSN : 2456-8856

भारती दलित साहित्य अकादमी मध्यप्रदेश, उज्जैन (पंजीयन क्रमांक 2327 दिनांक 13/05/1999) की मासिक पत्रिका

संस्थापक सम्पादक
डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी

संरक्षक
सेवाराम खाण्डेगर
11/3, अलखनन्दा नगर, बिड़ला हॉस्पिटल के पीछे,
उज्जैन मो.: 98269-37400

परामर्श
आयु. सूरज डामोर IAS
पूर्व सचिव-लोक स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण वि.
म.प्र.शासन, भोपाल मो. 094253-16830

सम्पादक
डॉ. तारा परमार
9-बी, इन्द्रपुरी, सेठी नगर, उज्जैन-456010
मो. 94248-92775

सम्पादक मण्डल :
डॉ. जयप्रकाश कर्दम, दिल्ली
डॉ. खन्नाप्रसाद अमीन, गुजरात
डॉ. जसवंत भाई पण्ड्या, गुजरात
डॉ. शैलेन्द्र कुमार शर्मा, म.प्र.

Peer Review Committee
डॉ. श्रवणकुमार मेघ, जोधपुर(राजस्थान)
प्रो. दत्तात्रय मुरुमकर, मुंबई (महाराष्ट्र)
प्रो. रश्मि श्रीवास्तव, उज्जैन (म.प्र.)
डॉ. बी.ए.सावंत, सांगली (महाराष्ट्र)

कानूनी सलाहकार
श्री खालीक मन्सूरी एडव्होकेट, उज्जैन

अनुक्रमणिका

क्र.	विषय	लेखक	पृष्ठ
1.	अपनी बात	डॉ. तारा परमार	03
2.	भारत में वंचित वर्गों का विकास और समावेशी लोकतंत्र : मुद्दे एवं चुनौतियाँ	आसीन खाँ	04
3	प्राचीन व आधुनिक कालीन ग्राम पंचायतों का तुलनात्मक अध्ययन	सुरेन्द्र (शोधार्थी) डॉ. तिलक राज आहूजा (शोध पर्यवेक्षक)	07
4	वैश्वीकरण और वंचित समाजों की कवियित्रियाँ	शीतांशु	10
5.	अर्थाभाव के संदर्भ में 'विधवा स्त्रियाँ'	डॉ. निलोफर मंज़ूर	14
6.	Politics of Dalits: Mapping the Identity and Assertion in Telangana	Dr. Rajesh Kota Dr. Ravi Sabavath	17
7.	ग्लोबल गाँव के देवता एवं भूमण्डलीकरण का प्रभाव	त्रिनेत्र तिवारी (शोधार्थी)	22
8.	सामाजिकता के आईने में तिरस्कृत और शिकंजे दर्द	डॉ. सोनम खान	25

UGC Care Listed Journal

खाते का नाम – आश्वस्त (Ashwast)
खाते का नं.- 63040357829
बैंक – भारतीय स्टेट बैंक,
शाखा– फ्रीगंज, उज्जैन (Freeganj, Ujjain)
IFS Code - SBIN0030108

Web : www.aashwastujjain.com
E-mail : aashwastbdsamp@gmail.com

एक प्रति का मूल्य	:	रुपये 20/-
वार्षिक सदस्यता शुल्क	:	रुपये 200/-
आजीवन सदस्यता शुल्क	:	रुपये 2,000/-
संरक्षक सदस्यता शुल्क	:	रुपये 20,000/-

विशेष : सम्पादन, प्रकाशन एवं प्रबंध अवैतनिक तथा पत्रिका में प्रकाशित विचारों से सम्पादक-मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। विवाद की स्थिति में न्यायालय क्षेत्र उज्जैन रहेंगा।

अपनी बात

हिन्दी साहित्य सम्राट मुंशी प्रेमचन्द का कहना था–''राष्ट्र की बुनियाद, राष्ट्र की भाषा है। नदी, पहाड़ और समुद्र राष्ट्र नहीं बनाते। भाषा ही वह बंधन है जो चिरकाल तक राष्ट्र को एक सूत्र में बांधे रखती है और उसे बिखेरने, विखंडित और विभाजित होने से रोकती है।'' इंग्लैण्ड के विद्वान डॉ. मृगेसर के अनुसार–''हिन्दी दुनिया की महानतम भाषा है। भारत को समझने के लिये हिन्दी–ज्ञान अनिवार्य है।'' फादर कामिल बुल्के ने यहाँ तक कहा कि–''विश्व में कोई ऐसी विकसित एवं साहित्यिक भाषा नहीं है जो हिन्दी की सुगमता से मुकाबला कर सके।''

निःसन्देह जिस भाषा के माध्यम से सम्पूर्ण राष्ट्र में विचार–विमर्श किया जा सके, जो अर्न्त प्रादेशिक हो और जिसमें सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक विचारों को अभिव्यक्त करने की क्षमता हो उसे राष्ट्रभाषा की संज्ञा दी जा सकती है। किसी भी स्वतंत्र राष्ट्र के लिये जो आवश्यक तत्व होते हैं, राष्ट्रभाषा उनमें से एक है। यद्यपि किसी भी राष्ट्र में प्रयुक्त सभी भाषाएं राष्ट्रीय भाषा होती है लेकिन उस राष्ट्र की कोई एक भाषा ही राष्ट्रभाषा के नाम से जानी जाती है। वह भाषा उस राष्ट्र की प्रतीक होती है। हमारे यहां हिन्दी भाषा को प्रतिनिधि और प्रतीक भाषा के रूप में अंगीकार किया गया है।

एक जानकारी के अनुसार भारत में हिन्दी जानने और बोलने वालों की संख्या सौ करोड़ से अधिक है। अपनी सरलता के कारण हिन्दी की विश्व स्वीकार्यता तेजी से बढ़ भी रही है लेकिन हम भारतवासी उसे अंग्रेजी से हीन मानते चले आ रहे है। अंतिम सत्य उजागर करने वाला प्रश्न भारतीय युवाओं के मन में जस का तस है कि वर्तमान में हिन्दी लगातार अंग्रेजी से मात खाती जा रही है। राजकाज की भाषा होने के पश्चात हिन्दी समाज के वांछित लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकी। मध्यम सामाजिक हैसियत का प्रश्न हो या फिर ग्लोबल बाजार में प्राप्त होने वाले रोजगार का प्रश्न हो, दोनों का हल अंग्रेजी ही है। केवल हिन्दी दिवस, हिन्दी पखवाड़ा मनाने या विश्व हिन्दी सम्मेलन आयोजित कर लेने से हिन्दी की यात्रा सुखद और उसका भविष्य उज्जवल नहीं हो सकता।

इस भ्रम को भी तोड़ना होगा क्योंकि हिन्दी दुनिया की अग्रणी भाषाओं में से एक है। हिन्दी हमारी रोजमर्रा की भाषा है, यह इन्टरनेट की दुनिया में भी तेजी से पांव प्रसार रही है, इसमें विश्व भाषा बनने की क्षमता है। आज जहाँ कम्प्यूटर एवं इंटरनेट पर हिन्दी की लोकप्रियता चरम पर है वहीं विदेशों से लोग भारत में हिन्दी भाषा सीखने के लिये आ रहे हैं। हिन्दी की प्रतिष्ठा के लिये सरकारी कार्यक्रमों से हटकर यदि हर हिन्दी भाषी ठान ले कि उसे हिन्दी में ही कार्य करना है तो हिन्दी को आगे बढ़ने से कोई नहीं रोक सकता। दूसरे हिन्दी को आर्थिक उदारीकरण का नया कवच मिला है। मनोरंजन की दुनिया के अलावा चमक–दमक वाले घरेलू उत्पादों व नई सेवाओं के विपणन ने भी आज के श्रव्य–दृश्य मीडिया ने जैसे रोमन लिपि में सारे भारत को हिन्दी सीखाने का दायित्व स्वतः अपना लिया है। लेह से लेकर त्रिवेन्द्रम तक या सभी बड़े महानगरों में चटपटे हिन्दी के वाक्यांश रोमन लिपि में मिलेंगे चाहे वह 'ठण्डा मतलब कोकाकोला हो' या 'यह दिल मांगे मोर।'

हिन्दी सुबोध, सरल, सहज और बोधगम्य है, व्यापक है, वैज्ञानिक है। इसकी लिपि व वर्तनी मानक है–जैसी लिखी जाती है वैसे ही इसका उच्चारण होता है। इसकी वर्णमाला और वर्तनी–ऑर्थोग्राफी भाषा शास्त्र की दृष्टि से वैज्ञानिक है और अंत में भारत की किसी भी प्रादेशिक भाषा से हिन्दी का कोई विरोध या अलगाव नहीं है जो भाषा बाहर से आई है वही बाहर जायेगी हिन्दी भारत की मिट्टी से उपजी भाषा है, वह यहीं थी और यहीं रहेगी।

देश के भीतर हिन्दी का संघर्ष राष्ट्रभाषा का नहीं 'राजभाषा' का है। आज यदि केन्द्र और प्रादेशिक सरकार में बैठे हिन्दी भाषी कर्मचारी और अधिकारी ही अपनी सेवा के समय हिन्दी में ही काम करे तो 'राजभाषा' का संघर्ष 80% समाप्त हो जायेगा।

– डॉ. तारा परमार

भारत में वंचित वर्गों का विकास और समावेशी लोकतंत्र : मुद्दे एवं चुनौतियाँ

– आसीन खाँ

भारत में लोकतांत्रिक शासन प्रणाली ने 'विशिष्ट वैषम्य' के साथ सात दशक की विकास यात्रा को पूरा कर लिया है। जहां कुछ लोग राजनीतिक अधिकारों को सामाजिक–आर्थिक प्रगति के एक साधन के रूप में स्वीकार करके इसके इस्तेमाल के तरीके ही सीख रहे हैं, वहीं दूसरी तरफ अभिजन वर्ग अपने संसाधनों के सहारे लोकतंत्र पर अपने वर्चस्व स्थापित करने के साधन के रूप में इस्तेमाल करने की जुगत में लगा है। भारतीय जन–मानस के मन–मस्तिष्क में जाति, लिंग और धर्म आधारित नफरत, भेदभाव, पूर्वाग्रह और असहिष्णुता जैसे असमानताकारी भाव समाजीकरण की प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अंग रहे हैं, जिसके कारण हमारे समाज के दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक, महिला जैसे वंचित वर्ग सदियों से शोषण व प्रताड़ना के शिकार होते आए हैं। एक प्रगतिशील, सभ्य और लोकतांत्रिक समावेशी समाज में धर्म, जाति व लिंग आधारित शोषण का कायम रहना दुर्भाग्यपूर्ण है। जाति आधारित उत्पीड़न, शोषण एवं हिंसा की दृष्टि से दलित सबसे अधिक पीड़ित हैं और संवेदनशील भी।[1]

प्रस्तावना :– 1935 में अंग्रेज सरकार ने भारत की दबी–कुचली जातियों को अनुसूचित जाति और जनजातियों में वर्गीकृत किया। भारतीय समाज में जिन जातियों को अस्पृश्य समझा जाता था, उन्हें संबोधित करने के लिए भाषायी शब्दावली और राजनीतिक आयाम बदलते रहे हैं। जिन दमित और अछूत समझी जाने वाली जातियों को महात्मा गांधी ने 'हरिजन' कहकर संबोधित किया था, आज उनको सामान्य रूप से 'दलित वर्ग' के रूप में पहचाना जाता है। दलित से अभिप्राय उन सभी जातियों व वर्गों से था, जो भारतीय समाज में एक औसत सामान्य जीवन जीने से वंचित और सामाजिक रूप से उपेक्षित थे, जिनमें पिछड़े, महिलाएं, अनुसूचित जाति व जनजाति के लोग शामिल रहे हैं, परंतु आज के बदले हुए सामाजिक व राजनीतिक परिवेश में यह शब्द अनुसूचित जाति के लोगों के लिए प्रयुक्त किया जाता है।[2]

किसी राष्ट्र की शासन व्यवस्था, उसकी सामाजिक संरचना और आर्थिक विकास के स्वरूप की बुनियाद पर टिकी होती है, इसलिए सामाजिक–आर्थिक लोकतंत्र के बिना किसी लोकतांत्रिक व्यवस्था का सफल होना असंभव है। अमेरिकी न्यायविद लुई डी ब्रैंडे का कथन है कि–'किसी देश में लोकतंत्र हो सकता है या फिर बहुत थोड़े से लोगों के पास शक्ति एवं संपदा का संकेंद्रण। किसी भी प्रकार की विषमता, विशेष रूप से आर्थिक विषमता और लोकतंत्र का एक साथ बने रहना असंभव है क्योंकि विषमता धीरे–धीरे लोकतंत्र को नष्ट कर देती है अथवा उसे दोषपूर्ण बना देती है।[3]

भारतीय सामाजिक परिवेश में व्याप्त जाति, लिंग और धर्म आधारित असमानता एक असाध्य रोग की तरह है जो सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र का मार्ग अवरुद्ध करके न केवल राजनीतिक लोकतंत्र के लिए खतरा पैदा कर रही है अपितु समावेशी लोकतंत्र और विकास के लिए भी एक गंभीर चुनौती है। जनगणना–2011 के अनुसार भारत की 121 करोड़ जनसंख्या में 58.64 करोड़ महिलाएं, 20.14 करोड़ दलित, 10.42 करोड़ आदिवासी और 17.22 करोड़ मुसलमान आबाद हैं।

विचार–विमर्श :– देश में एक तरफ गरीबी व बेकारी वंचित वर्गों के लिए भारी अयोग्यता है वहीं दूसरी तरफ जाति व्यवस्था ने असमानता पैदा करने में बड़ी भूमिका निभाई है। नोबल पुरस्कार विजेता, प्रसिद्ध

विकास अर्थशास्त्री प्रोफेसर आमर्त्य सेन ने अपने अध्ययन में इस तथ्य को उजागर किया है कि 'कैसे संपूर्ण एशिया में सामाजिक बहिष्कारों ने वंचनाओं को जन्म दिया और व्यक्तिगत अवसरों को सीमित कर दिया। लोकजीवन में बिना झिझक भाग लेने की असमर्थता वास्तव में सामुदायिक जीवन में भागीदारी के अवसरों एवं अधिकारों से उत्पन्न एक प्रकार की वंचना है।' सामाजिक संबंधों से बहिष्कार एवं सीमित अथवा प्रतिबंधित कर दिये गए आर्थिक अवसर, जीवन के दूसरे क्षेत्रों जैसे–रोजगार, शिक्षा, बाजार आदि से वंचित कर देने से जुड़े हैं और यह एक तरह से क्षमताओं से वंचित करना है।

सात दशक से अधिक की लोकतांत्रिक प्रक्रिया के बावजूद भारत में आज भी दलित हाशिये पर हैं जिसके मूल में आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक भेदभाव। आर्थिक समानता व सामाजिक न्याय की स्थापना के उद्देश्य से भारतीय संविधान में आरक्षण व्यवस्था और भेदभाव के विरुद्ध संरक्षण, समाज व राजनीति में दलित वर्ग के लोगों की भागीदारी सुनिश्चित करता है और हर प्रकार के भेदभाव के विरुद्ध कानूनी सुरक्षा प्रदान करता है परंतु भारतीय समाज के विषमतामूलक सामाजिक ढांचे में विकास की एक पूंजीवादी व्यवस्था विद्यमान है जो असंतुलित वितरण के रूप में परिलक्षित होती है। शक्ति, संपदा और अवसरों के असमान वितरण अथवा वितरणात्मक असमानता के कारण समाज का एक विशेष वर्ग ही लाभान्वित होता रहा है और बड़ी संख्या में उपेक्षित जन गरीबी से पीड़ित, हाशिये पर धकेल दिया गया और उनके लिए अवसरों की उपलब्धता या फिर उन तक पहुँच सीमित कर दी गई।[4]

राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन की 1999–2000 की रिपोर्ट ने उजागर किया है कि अनुसूचित जाति की 29.90 प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या थोड़ी बहुत कृषि भूमि व गैर–भूमि पूंजी प्राप्त कर सकी है। सर्वेक्षण में अनुसूचित जाति के 75 प्रतिशत परिवार भूमिहीन कृषि श्रमिक के रूप में चिन्हित किए गए थे और जिनके पास जमीनें थी भी, वे काफी कम या कहें कि अपर्याप्त थी। एनएसएसओ के 61वें चक्र के आंकड़ों से यह सामने आया कि गैर–कृषि असंगठित क्षेत्र में अनुसूचित जाति के कुल कामगारों की संख्या का 66.55 प्रतिशत, जनजाति के 73.25 प्रतिशत, हिंदू– ओबीसी के 74.75 प्रतिशत और मुसलमान–ओबीसी के कुल कामगारों की संख्या का 87. 95 प्रतिशत कार्यरत था।[5] कोविड–19 महामारी के दौरान सरकार द्वारा घोषित लॉकडाउन के कारण देश भर में आर्थिक व व्यावसायिक गतिविधियों के ठप हो जाने के परिणामस्वरूप असंगठित क्षेत्र ने श्रमिकों को निकाल दिया, विशेष रूप से अनौपचारिक क्षेत्र ने। विनिर्माण और निर्माण क्षेत्र में महिला, दलित एवं अन्य वंचित वर्गों के लोगों की बहुलता है जिन्हें महामारी के दौरान अपने रोजगार से हाथ धोना पड़ा। गैर–कृषि असंगठित क्षेत्र के व्यवसायों में अनुसूचित जाति व जनजाति तथा अन्य वंचित वर्गों के लोग बड़ी संख्या में कार्यरत हैं। इस आधार पर कह सकते हैं कि भारतीय अर्थव्यवस्था के असंगठित क्षेत्र का विकास सीधे तौर से वंचित वर्ग के सामाजिक व आर्थिक विकास और अर्थव्यवस्था के समावेशीकरण से जुड़ा है।

संवैधानिक प्रावधानों एवं पर्याप्त संरक्षणात्मक उपायों के आधार पर हमारे नीति निर्माताओं और सामाजिक चिंतकों ने यह माना था कि त्वरित आर्थिक विकास के साथ–साथ दलितों के विरुद्ध होने वाले अत्याचार समाप्त हो जाएंगे, परंतु 1970 के बाद के दशकों में यह सामने आया है कि देश में दलितों के विरुद्ध जाति आधारित अपराधों में वृद्धि हुई है। सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय द्वारा मार्च 22, 2022 को संसद में प्रस्तुत लिखित जवाब में बताया है कि 2018 से 2020, तीन वर्षों में देशभर में दलितों के खिलाफ अत्याचार के 1,39,045 मामले आए हैं और वर्ष वार संख्या क्रमशः 42,793, 45,961 व 50,291 है। इस अवधि में दलितों के विरुद्ध उत्तर प्रदेश में 36,467,

बिहार 20,973, राजस्थान 18,418 और मध्य प्रदेश में 16,952 अपराध हुए।[6] दलितों के विरुद्ध बढ़ते हुए अपराधों के संबंध में रेखांकित करने योग्य तथ्य अपराधों की बदलती हुई प्रकृति एवं प्रवृति है जिनमें – (क) सांस्कृतिक व रीति–रिवाजों के अत्याचारों का स्थान अब जाति आधारित अत्याचारों ने ले लिया और इनमें उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है, जैसे– दलितों के घर जला देना, उनको वोट देने से रोकना अथवा उनके वोट पहले ही डाल देना, उनकी औरतों को बेआबरू करके गाँव में घुमाना आदि। (ख) दलित वर्ग के लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार होने से वर्चस्ववादी वर्ग में उनसे ईर्ष्या की भावना देखने को मिल रही है जिसकी परिणति दलित उत्पीड़न व अत्याचारों में वृद्धि के रूप में है।

यद्यपि प्रतिस्पर्धी राजनीति के कारण दलितों का राजनीतिक सशक्तिकरण हुआ है जिसके फलस्वरूप वे राजनीतिक लोकतंत्र की मुख्य धारा में शामिल हुए हैं परंतु सामाजिक व आर्थिक जीवन में ये अभी भी हाशिये पर हैं। यह सही है कि पूंजीवाद की पोषक नव उदारवादी विकास नीतियों ने जाति व्यवस्था पर प्रहार किया है और एक हद तक जाति प्रणाली को कमजोर करने में सफलता भी पाई है परंतु इसने दलितों के बीच ही कई प्रकार की असमानताओं को जन्म दिया है। दलित वर्ग में असमानता का एक उल्लेखनीय प्रकार क्षैतिज असमानता है जिसके फलस्वरूप दलितों के भीतर ही विषमता के खांचे देखने को मिल रहे हैं।

डॉ. भीमराव अंबेडकर अपने जीवन के कटु अनुभवों और तत्कालीन भारतीय समाज के अन्यायपूर्ण जातिवादी यथार्थ के प्रकाश में यह पाते हैं कि गांव जातीय शोषण के केंद्र हैं। डॉ. अंबेडकर ने सुझाया था कि दलितों को सुरक्षित जीवन एवं आर्थिक विकास के लिए शहरों में बसना होगा जहां शिक्षा के माध्यम से वे सामाजिक न्याय एवं आर्थिक विकास के अवसरों से लाभांवित हो सकेंगे।[7] डॉ अंबेडकर ने 1949 में, राष्ट्र को चेताया था कि 'भारत में राजनीतिक समानता तथा सामाजिक व आर्थिक असमानता का अंतर्विरोध स्थापित हो रहा है जिसे शीघ्रातिशीघ्र समाप्त करने की आवश्यकता है अन्यथा गैर–बराबरी के शिकार समूह राजनीतिक बराबरी में अपना विश्वास खो देंगे।' आज 73 वर्ष बाद भी डॉ. अंबेडकर की चिंता व चेतावनी प्रासंगिक है।[8] उन्होने लोकतंत्र के ऐसे स्वरूप की आवश्यकता पर बल दिया था जिसमें स्वतंत्रता, समानता, धर्मनिरपेक्षता और सामाजिक न्याय के मूल्यों को संस्थागत रूप मिला हो। स्पष्ट रूप से लोकतंत्र सहभागी हो तथा राज्य और समाज के उपेक्षित एवं वंचित वर्ग के सशक्तिकरण और उनके आपसी संबंधों को गैर–श्रेणीबद्ध व समान रूप से पुनर्गठित करने के उद्देश्य से सत्ता एवं शक्ति संरचना में मौलिक परिवर्तनों पर आधारित हो।[9]

निष्कर्ष एवं सुझाव : विश्व के अधिकांश देश जहां 21वीं सदी के आधुनिक परिवर्तनों के दौर से गुजर रहें हैं वहीं हमारे वंचित वर्ग के लोग मध्ययुगीन कष्टकारी जीवन जीने को अभिशप्त हैं। इनके लिए अभी भी सामाजिक न्याय व मानवाधिकारों की बात बेमानी सी लगती है। भारत जैसे विकासशील देश में गरीबी, भुखमरी व बेरोजगारी को एक रणनीति के रूप में बनाकर रखना आश्चर्य की बात है। आज की राजनीतिक व्यवस्था में सरकार गरीबों को मुफ्त अनाज या मुफ्त खाना तो देना चाहती है परंतु गुणवत्तापूर्ण शिक्षा एवं रोजगार के मुद्दों पर कहीं कोई गंभीरता दिखाई नहीं देती है।

हमारा विकास मॉडल समावेशी नहीं रहा है। गरीबी में कमी लाने की गति को तीव्रतर करने के लिए आर्थिक संवृद्धि को कहीं अधिक गरीब समर्थक तथा समावेशी बनाया जाना चाहिए। हमें आमर्त्य सेन– जीन रोजे के विकास मॉडल को अपनाना चाहिए जिसमें आर्थिक विकास को मानवीय मूल्यों व गुणों के विस्तार से जोड़कर देखा गया है।[10] विकास के समावेशीकरण के लिए यह आवश्यक है कि समाज के वंचित व हाशिये

के लोगों का राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक सशक्तिकरण करके विकास प्रक्रिया में इनकी निर्बाध सहभागिता एवं सहअस्तित्व को सुनिश्चित किया जावे अन्यथा समाज व राष्ट्र की जमीनी वास्तविकता समावेशी लोकतांत्रिक विकास के वास्तविक अर्थ से कहीं दूर आदर्श के अंधेरों में दम तोड़ती हुई रह जाएगी।

सह आचार्य
अर्थशास्त्र विभाग बाबू शोभाराम
राजकीय कला महाविद्यालय, अलवर
मेबाइलः 9460601973

संदर्भः–

1. नामदेव., 'समावेशी लोकतंत्र : आदर्श और यथार्थ', योजना, अगस्त 2013, पृ. 52
2. चमड़िया, अनिल. 'महादलित की विकासगाथा', योजना, अगस्त 2012, पृ. 39
3. सिंह, रहीस. 'विषमता में समावेशी लोकतंत्र कैसे संभव', योजना, अगस्त 2013, पृ. 39
4. पई, सुधा. श्वंचित वर्ग का बहिष्कार और हाशिये की स्थिति, योजना, अगस्त 2013, पृ. 44
5. शुक्ला, प्रवीण. श्हाशिए से उठकर अर्थव्यवस्था का केंद्र बनने की क्षमता, योजना, अक्टूबर 2014, पृ. 32
6. सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, मार्च 22, 2022
7. मेहरड़ा, बी.एल. 'डॉ भीमराव अंबेडकर : जीवन और दर्शन', रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 1992
8. सारस्वत, ऋतु. 'अंबेडकर के विचारों की प्रासंगिकता', कुरुक्षेत्र, दिसंबर, 2015, पृ. 16
9. नागर, पुरुषोत्तम. 'आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिंतन' राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2003, पृ. 688
10. द्रेजे, जीन एंड आमर्त्य सेन. इंडिया : डवलपमेंट एंड पार्टीसिपेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2002

प्राचीन व आधुनिक कालीन ग्राम पंचायतों का तुलनात्मक अध्ययन

– सुरेन्द्र (शोधार्थी)
– डॉ. तिलक राज आहूजा (शोध पर्यवेक्षक)

सार संक्षेप :

भारत में पंचायती राज व्यवस्था सदियों से चली आ रही व्यवस्था है। प्राचीन कालीन पंचायतों को अधिकार व शक्तियां किसी राजा या राज्य तथा राज्य द्वारा निमित किसी संस्था से प्राप्त नहीं होती थी अपितु ग्राम पंचायतें स्वयं अपनी शक्ति के स्त्रोत होती थीं। ग्रामीणों की अपनी मान्यता, परम्पराएं, सभ्यता, संस्कृति, प्रथाएं, रीति–रिवाज व नियम होते थे, इन सब के मिश्रण व ग्रामीणों की सर्वसम्मति के आधार पर ग्राम पंचायतें अधिकार व शक्तियां प्राप्त करती थीं, जिन पर किसी भी प्रकार का बाहरी हस्तक्षेप नहीं होता था। यहां तक की सम्राट भी इन ग्रामीण पंचायती व्यवस्थाओं में हस्तक्षेप नहीं करते थे। इसके विपरीत वर्तमान काल में स्थापित पंचायती राज व्यवस्थाएं स्वयं में अधिकार व शक्तियों की स्त्रोत नहीं हैं अपितु इसको विकेन्द्रीकारण की प्रक्रिया के तहत अधिकार प्रदान किए गए हैं।

बीज शब्द– पंचायती राज, ग्राम पंचायतें, पंचायतों की स्वायत्तता, स्थानीय स्वायत्तता।

परिचय

पंचायत से अभिप्राय गांव की उस संस्था से है जो गांव की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए सामूहिक हित के सिद्धान्त पर कार्य करती है। सामान्यतः पंचायत शब्द पांच व्यक्तियों के समूह से निकला हुआ माना जाता है। जिसमें शामिल लोग सम्पूर्ण ग्राम का प्रतिनिधित्व करते थे, कालांतर में इस पंचायत शब्द को ग्राम प्रशासन को संचालित करने वाले संस्था के लिए प्रयोग में लाया जाने लगा। ग्राम पंचायतें अपने उद्भव के समय से भारत में गांव समुदायों के लिए व सम्पूर्ण गांव के हित

तथा गांव के लोगों के परस्पर सहयोग के आधार पर कार्य करती आ रही हैं।

प्राचीन व मध्यकालीन भारत में ग्राम पंचायतें

भारत में वैदिक काल ग्रामीण समाज पर आधारित काल था। इस काल में भारत में नगरों का अस्तित्व उतना नहीं रहा जितना ग्रामीण समाज का रहा। वैदिक काल में गांव की राजनैतिक, प्रशासनिक व पारम्परिक व्यवस्था का संचालन गांव के वृद्व लोगों की सभा के द्वारा किया जाता था तथा इस सभा का मुखिया ग्रामीणी होता था। उत्तर वैदिक काल में वैदिक काल से चली आ रही सभा तथा समिति का महत्व अत्यधिक बढ़ गया। इसमें सभा सम्भवतः गांव की संस्था के रूप में कार्य करते हुए राजा की शक्तियों पर अंकुश लगाने का कार्य करती थी। इस तथ्य से इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि उत्तर वैदिक काल में ग्राम समुदायों की शक्तियों में पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी तथा ग्राम पंचायतें अपनी पूर्ण स्वायत्तता का उपयोग कर रही थी। रामायण तथा महाभारत काल में भी ग्राम पंचायतों के होने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। रामायण काल में ग्राम पंचायतों के महत्व का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि राम द्वारा रावण को मुक्ति प्रदान करने पर राम को ग्रामीणी के समतुल्य माना गया। महाभारत के शांतिपर्व में ग्राम सभा के विषय में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। बौद्ध काल में ग्राम प्रशासन की व्यवस्था का संचालन करने के लिए ग्राम वृद्धों की सभा के प्रमाण प्राप्त होते हैं। इस काल में ग्राम पंचायत के मुखिया को ग्राम भोजक कहा जाता था जो ग्राम की समस्त व्यवस्था के संचालन के कार्य के साथ गांव को सुरक्षित रखने का कार्य भी करता था। मौर्य काल में कौटिल्य रचित अर्थशास्त्र व मौर्य कालीन लेख इस काल में ग्राम प्रशासन व ग्राम पंचायतों के विषय में बहुमूल्य सूचना उपलब्ध करवाते हुए बताते हैं कि ग्राम का संचालन वृद्ध जनों की सभा द्वारा ग्रामीणी की देखरेख में किया जाता था। गुप्त काल में ग्राम पंचायतों का अभूतपूर्व विकास हुआ तथा सभी गांवों के लिए ग्रामसभा की व्यवस्था की गई। दक्षिण भारत में चोल काल में गांव के मुखिया को ग्रामपति कहा जाता था तथा ग्राम का प्रशासन वृद्धजनों की परिषद के माध्यम से विभिन्न समितियों के द्वारा चलाया जाता था। मराठा काल में ग्राम पंचायतें स्वायत्त रूप से कार्य कर रही थीं तथा गांव का मुखिया पाटिल कहलाता था, जिसकी सहायता के लिए कुलकर्णी, महार, चौगुल व पोतदार नामक पदाधिकारी होते थे। मुगल काल के शुरूआती दौर में ग्राम पंचायतें पारम्परिक रूप से कार्य करती रही किन्तु मुगलों ने समय के साथ–साथ ग्राम पंचायतों में हस्तक्षेप किया जिससे ग्राम पंचायतों का स्वरूप चरमराने लगा।

आधुनिक भारत में ग्राम पंचायतें

भारत में आधुनिक ग्राम पंचायतों का उदभव ब्रिटिश काल से माना जाता है। लेकिन यह कहना भी अनूचित नहीं होगा की इस काल में ग्राम पंचायतें अपने मूल स्वरूप को खोती चली गई। ब्रिटिश साम्राज्य उपनिवेशिक व्यवस्था पर आधारित था तथा उन्होने मुनाफा कमाने के उदेश्य से भूमि व कृषि का वाणिज्यकरण किया। ग्राम पंचायतों व ग्राम समुदायों की आत्मनिर्भरता वस्तुओं व भूमि के सामुदायिकरण व कृषि व्यवस्था पर सदियों से टिकी हुई थीं जिसका इस काल में पतन होने लगा। ब्रिटिश काल में स्थानीय संस्थाओं को स्वायत्तता प्रदान करने के लिए अनेक प्रयास किए गए। 1687 में मद्रास में नगर निगम स्थापना का प्रथम प्रयास किया गया, 1726 ई. में मेयर्स कोर्ट की स्थापना मुम्बई, मद्रास व कलकत्ता में की गई। 1870 में मेयो प्रस्ताव से स्थानीय स्तर पर वित्तीय विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था की गई। 1882 में लाया गया रिपन प्रस्ताव स्थानीय स्वाययत्तता के लिए एक अति अग्रगामी प्रस्ताव माना जाता है, इसके द्वारा स्थानीय स्वायत्तता के क्षेत्र में विस्तृत परिवर्तन किए गए, इस कारण उन्हे स्थानीय स्वायत्तता का जनक माना जाता है। 1919 के भारत सरकार अधिनियम के द्वारा स्थानीय स्वायत्तता को हस्तान्तरित विपय के तहत प्रांतों को इस विषय पर पूर्ण अधिकार प्रदान किए गए। 1925 तक

आते–आते बंगाल, बिहार, बम्बई, असम, पंजाब, मद्रास, केन्द्रीय प्रांत तथा उत्तर प्रदेश में ग्राम पंचायतों की स्वायत्तता के लिए अधिनियमों का निर्माण किया गया। इस दौरान कांग्रेस ने अपने अधिवेशनों व कार्यक्रमों में व महात्मा गांधी ने जनआन्दोलनों के द्वारा ग्राम पंचायतों के महत्व को जन–जन तक पहुंचाया। ब्रिटिश काल में ग्राम पंचायतों व स्थानीय निकायों के लिए अधिनियम बना कर इनको कानूनी रूप देने का महत्पूर्ण प्रयास किया गया जो कि स्थानीय स्वायत्तता के लिए मील का पत्थर साबित हुआ।

ग्राम पंचायतों का संवैधानिक विकास

भारत के मूल संविधान में ग्राम पंचायतों को राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में अनुच्छेद 40 में स्थान दिया गया। 1952 के सामुदायिक विकास कार्यक्रमों व 1953 राष्ट्रीय विस्तार सेवा के द्वारा ग्राम पंचायतों के विकास के प्रयास किए गए। बलवंतराय मेहता समिति, अशोक मेहता समिति, जी.के.वी.राव समिति, सिंधवीं समिति तथा पी.के. थुगन समिति आदि समितियों ने ग्राम पंचायतों की स्वायत्तता को स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ग्राम पंचायतों की वास्तविक तथा संवैधानिक स्थापना के लिए 73वां संविधान संशोधन अधिनियम 1992 पारित किया गया व 24 अप्रैल 1993 को लागू किया गया। इस संशोधन के द्वारा संविधान में भाग 9 व अनुसूची 11 को जोड़ते हुए अनुच्छेद 243 से 243 ण को स्थापित किया गया। त्रिस्तरीय पंचायती राज प्रणाली की स्थापना, राज्य चुनाव आयोग व राज्य वित्त आयोग की व्यवस्था की गई। पंचायतों के लिए पांच वर्ष का निश्चित कार्यकाल निर्धारित किया गया। समाज में हाशिए पर रखे गए वर्गों जिनमें महिला, अनुसूचित जाति व अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई। ग्राम पंचायतों को प्रदत्त विधायन के द्वारा 29 विषय क्षेत्रों में कार्य करने हेतु स्वायत्तता प्रदान की गई ताकि गांव के लोग प्रत्यक्ष लोकतंत्र के द्वारा अपने मसलों को स्वयं हल कर सकें।

प्राचीन व आधुनिक ग्राम पंचायतों की तुलना

ग्राम पंचायतें भारत में प्राचीन काल से विद्यमान रही हैं। प्राचीन कालीन ग्राम पंचायतें राजनैतिक, प्रशासनिक, आर्थिक, सामाजिक, सैनिक, सांस्कृतिक व न्यायिक दृष्टि से आत्मनिर्भर थीं। गांव के निवासियों को किसी भी प्रकार की आवश्यकता के लिए गांव के बाहर नहीं जाना पड़ता था, वो आवश्यकता चाहे आर्थिक हो सामाजिक हो या न्यायिक हो ग्राम पंचायतें व ग्राम समुदाय मानवीय जीवन के तमाम हितों की रक्षा व पूर्ति करते थे। लेकिन इन सब के होते हुए इस व्यवस्था में कुछ खामियां भी थीं जैसेमहिलाओं व समाज की उन जाति व वर्गों की अवहेलना करना जो समाज में सदियों से हाशिए पर रहीं। आधुनिक काल में स्थापित की गई ग्राम पंचायतें इस कमी को पूरा करती हुई नजर आती हैं। वर्तमान में ग्राम पंचायतों में सभी वर्गों के लिए उचित प्रतिनिधित्व प्रदान करने की व्यवस्था की गई है। प्राचीन कालीन ग्राम पंचायतें अपने अधिकार व शक्तियां ग्राम समुदायों, परामपराओं व सहमति के सिद्वांत से प्राप्त करती थीं इसके विपरीत आधुनिक ग्राम पंचायतें विकेंद्रीकरण द्वारा स्थापित प्रदत्त विधायन के आधार पर कार्य करती हैं। वर्तमान में स्थापित ग्राम पंचायतें केवल उन्ही क्षेत्रों में अपने अधिकारों का उपयोग कर पा रही हैं जो उनको विकेंद्रीकरण द्वारा सौपें जाते

निष्कर्ष : प्राचीन काल में ग्राम पंचायतें अपने स्वरूप को बनाए हुए तथा अपनी आवश्यकता अनुरूप अधिकार व शक्तियों का उपयोग स्वायत्त रूप से बिना किसी बाहरी दबाव के करती थी। वर्तमान समय में ग्राम पंचायतें भारतीय संविधान में किए गए संशोधन के द्वारा विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया के तहत स्थानीय स्वायत्तता के लिए स्थापित की गई संस्थाओं के रूप में कार्य कर रही हैं जो कि गांव के प्रत्येक वर्ग व समुदाय को साथ लेकर चल रही है। पंचायतों को और अधिक अधिकार प्रदान किए जाने की आवश्यकता है तथा इसके लिए प्राचीन भारतीय पंचायतों से प्रेरणा लेनी चाहिए।

राजनीति विज्ञान विभाग,
ओम स्टर्लिंग ग्लोब्ल विश्वविद्यालय,
हिसार, (हरियाणा) मो. 89012–77555

संदर्भः–

1. अग्रवाल कुमार प्रमोद, भारत में पंचायती राज, 2015, ज्ञान गंगा प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. गुप्त विश्वनाथ, भारत में पंचायती राज, 2017, सुरभि प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. लक्ष्मीकांत एम., भारत की राजव्यवस्था, 2020, McGraw Hill Education (India) Pvt-Ltd, Chennai
4. ग्रोवर बी. एल., मेहता अलका, यक्षपाल, आधुनिक भारत का इतिहास ,2003, एस.चन्द एण्ड कम्पनी लि., नई दिल्ली।
5. श्रीवास्तव चंद कृष्ण, श्रीवास्तव एम, प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति, 2012–13, यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहबाद।
6. महीपाल, पंचायती राज चुनौतियां एवं संभावनाएं, 2019, तेहरवी आवृति, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, वसंत कुंज नई दिल्ली।
7. वाधवा मंजूला, पंचायती राज का अवलोकन, कुरूक्षेत्र, वर्ष 64, अंक 9, जुलाई 2018, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, नई दिल्ली।

वैश्वीकरण और वंचित समाजों की कवियित्रियाँ

– शीतांशु

राष्ट्र राज्यों की राजनीति पर नियंत्रण और विभ्रम की निर्मितियों में महारथ–ये दो ऐसे तरीके हैं जिन्हें बुद्धिजीवी वैश्वीकरण के फलने–फूलने के आधार में रखते हैं। चर्चित अध्येता तारिक अली, जो ऑक्सफोर्ड में छात्र संघ अध्यक्ष भी रहे, का कहना है कि बिना 'कोलैबोरेटर' के ऐसी प्रवृत्तियाँ सफल नहीं हो सकतीं। जिस देश में ये शक्तियाँ अपना पैर पसारती हैं वहाँ पहले यह कोशिश करती हैं कि सत्ता में इनके आदमी ठीक जगह पर बैठे हों और लोगों के बीच भ्रम फैलाने के उचित माध्यम इनके पास उपलब्ध हों। जनतंत्र की शब्दावली की आड़ में जिस तरह बहुत सारी अजनतांत्रिक गतिविधियों को साम्राज्यवादी शक्तियाँ अंजाम देती रही हैं, एक बड़ा बौद्धिक समुदाय वैश्वीकरण में उसका और बारीक विस्तार देखता है। ये शक्तियाँ ऐसे नियंत्रण स्थापित करती हैं कि इनसे मुक्ति का प्रयास समाज को फूट, बर्बरता, हिंसा की आग में झोंक सकता है। बाद में वैश्वीकरण की पैरोकार शक्तियाँ इसे सभ्यताओं के संघर्ष और इतिहास के अंत के रूप में परिभाषित करती हैं। चित भी मेरी पट भी मेरी!

ऐसे में वर्ण व्यवस्था की मार जिन जातियों ने झेली है, जिन जनजातियों ने आधुनिकता की मार झेली है, उनकी 'अवमानना' की समाप्ति तभी संभव है जब समानता समाज के मूल्य के रूप में स्थापित हो, राजनीतिक–आर्थिक शक्तियाँ असमानता के खिलाफ खड़ी हो चूंकि भूमंडलीकरण की उक्त प्रक्रिया में ऐसी स्थिति का होना असंभव है, अवमानना के रूपों की समाप्ति भी असंभव हो जाती है। इस परिणति तक लंबे सामाजिक–सांस्कृतिक आंदोलनों के माध्यम से ही पहुँचा जा सकता है। मुक्ति तब तक नहीं है जब तक समाज और शासन यह समझ नहीं लेते कि हर व्यक्ति को आत्म–सम्मान के साथ जीने का अधिकार है। दलित साहित्य या संघर्षरत समाजों के किसी भी साहित्य का महत्व तभी होगा जब वह वर्तमान की मुक्ति का रास्ता न खोले बल्कि इसका भी रास्ता दिखाए कि भविष्य में समाज में ऐसी विकृत परिस्थितियाँ न पैदा हों।

दलित और आदिवासी साहित्य में वैश्वीकरण के विरोध में बहुत सारे स्वर हैं। यह स्वर और गहरा हो जाता है जब इनके स्त्री–साहित्य की ओर देखा जाए। जिसने जितनी मार सही है वह छल–दिखावे से उतना वाकिफ है। अन्य वंचित तबकों में भी स्त्रियों में यह स्वर गहरा दिखाई देता है। इतिहास में जो कुछ हुआ उससे अब वे वाकिफ हैं। वे नया इतिहास और भविष्य चाहती हैं। और यह इतिहास पुनः सिर्फ पुरुषवादी या पूँजीवादी दृष्टि से नहीं लिखा जाना चाहिए, अन्यथा इतिहास को परिवर्तित करने की जरूरत फिर से आन पड़ेगी। वे

इतिहास की पुनर्निर्मिति चाहती हैं किन्तु हाशिए में भी हाशिए पर विद्यमान को ध्यान में रखते हुए। अनिता भारती की कविता इतिहास की पंक्तियाँ हैं– साथियों/ये इतिहास झूठा है/मुझे इस पर विश्वास नहीं/ये कभी हमारा था ही नहीं/मैं तुम्हें फिर से खंगालूंगी/मैं कटिबद्ध हूँ/क्योंकि जरूरत है आज ये बताना/कि इतने ढेर सारे कदमों के बीच/एक कदम मेरा भी है।

इस तरह जो जितने हाशिए पर है समाज में चल रहे दुष्चक्र के उतने ही खिलाफ उसकी आवाज है। दलित कवयित्रियाँ दलित आंदोलन को इस दृष्टि से पुनर्विश्लेषित करने की माँग कर रही हैं क्योंकि पितृसत्तात्मक संरचनाएँ कमजोर होती नहीं दिखाई दे रही हैं और वैश्वीकरण नई समस्याओं के साथ मुखातिब है। हाशिए से आ रही आवाजों में भले ही वैश्वीकरण की सैद्धांतिक समझदारी सबके पास न हो, पर उनके अनुभव और संवेदनाएँ इन वैचारिक समझदारियों से कहीं ज्यादा परिपक्व हैं।[1] पिछले वर्षों में जो जनजातीय साहित्य आकार लेना शुरू हुआ है उसमें भूमंडलीकरण और नव–उदारवादी से पैदा हुई परिस्थितियों का बहुत ही गंभीर विरोध दिखाई देता है। औपनिवेशिक प्रक्रिया ने जनजातियों के जीवन को और भी विकट बनाया था। अनुज लुगुन पूछते हैं कि–'टाटा, कोलियारी हमारा है/चांडिल, दामोदर हमारा है/लेकिन हम कहाँ हैं/हमारा देश कहाँ है।

जनजातियाँ, जो दलित समुदाय की तरह वर्ण व्यवस्था में नहीं देखी जा सकतीं, औपनिवेशिक प्रक्रिया का एक भिन्न स्तर पर भी शिकार हुईं। औपनिवेशिक प्रक्रिया ने जनजातियों के लिए जो व्यवस्था तैयार की भूमंडलीकरण एक तरह से उसका विस्तार है। भूमंडलीकरण जिन दावों के साथ उपस्थित हुआ है, उनकी असलियत पहचानने का बहुत ही सहज तरीका है यह देखना कि जनजातियों पर इस प्रक्रिया का क्या असर हो रहा है। एक तरह से यह हाशिये पर रह रहे लोगों का और भी हाशियाकरण कर देने पर आमादा है। निर्मला पुतुल ने पितृसत्ता और वैश्वीकरण के समीकरण को अपनी कविता आदिवासी स्त्रियाँ कविता में मार्मिक ढंग से उकेरा है– उनकी आँखों की पहुँच तक ही/सीमित होती उनकी दुनिया/शामिल है इस दुनिया में नहीं जानती वे/उनकी दुनिया जैसी कई कई दुनियाएँ/वे नहीं जानतीं कि/कैसे पहुँच जाती हैं उनकी चीजें दिल्ली/जबकि राजमार्ग तक पहुँचने से पहले ही/दम तोड़ देतीं उनकी/दुनिया की पगडंडियाँ/नहीं जानती कि कैसे सूख जाती हैं/उनकी दुनिया तक आते आते/नदियाँ/तस्वीरें कैसे पहुंच जाती उनकी दिल्ली/नहीं जानतीं वे, नहीं जानती।

शहर के छलावों को वंचित समाज की स्त्रियाँ बखूबी समझती हैं। वे इस बात को बखूबी समझती हैं कि शहर में चीजों का महत्व बाजार में उनके मूल्य से तय होता है। किसी के साथ कैसा व्यवहार होगा यह इससे तय होगा कि वह बिक्री या उपभोग के लिहाज से कितनी मूल्यवान है। जंगल के बारे में भी यही सच है। यह मिथक कि जंगल में रहने वाले और शहर में रहने वाले एक–दूसरे से अपरिचित हैं इसलिए जंगल में समस्याएँ हैं–अब टूट चुका है। जसिंता केरकेट्टा की इस कविता से आप समझ सकते हैं कि मेरा आग्रह क्या है–पुलिस जंगल की भाषा नहीं समझती/आदिवासी पुलिस की भाषा नहीं समझते/उस दिन बच गए गाँव के लोगों ने सोचा/वे अपने बच्चों को शहर की भाषा सिखाएंगे/ताकि वे मारे जाने से बच जाएँ/जंगल में फिर हथियारबंद पुलिस आई/उनकी भाषा समझने वाले लोगों ने/उन्हें देखकर पहले सवाल किया/पर इस तरह सवाल करने पर वे/बंदूक की बट से फिर मारे गए/कुछ ने उनके सवालों का जवाब दिया/पर वे उनके मनमाफिक जवाब नहीं दे सके/वे नहीं जानते कि किस आरोप में वे जेल गए/कोई भी भाषा जंगल के आदमी को/किसी भी अत्याचार से क्यों नहीं बचा पाती/वे दिन रात यही सोचते हैं/पर आज वे समझते हैं/दरअसल शहर की भाषा जानना या नहीं जानना/जंगल में बचे रहने की शर्त नहीं है/जंगल में लोगों के मारे जाने के लिए/जंगल में उनका होना भर काफी है।

वंचित स्त्रियों के लिए वे प्रश्न कोई मायने नहीं रखते जिन्हें बाजार ने प्रत्यक्ष कर रखा है। इंटरनेट में मुक्ति ढूंढने से पहले उन्हें अपनी दैनिक जरूरतों की चिन्ता है। पितृसत्ता से परिवारों में जूझना जारी ही था कि अब वैश्वीकरण द्वारा उसके परिवर्तित क्रूर रूपों का आतंक उनके चारो ओर है। जनजातियों की स्त्रियों के प्रश्न और चिन्ताएँ वर्षों से वैसे ही बनी हुई हैं। उसका समाधान तो हुआ नहीं और उसे अपना हाव–भाव बदलने की हिदायत दी जा रही है। इसलिए आगे बढ़ कर पूँजीवाद के विभिन्न आयाम किस तरह इस ब्राह्मणवादी पितृतसत्ता को मजबूत कर रहे हैं यह खंगालने की जरूरत है। वंचित समाजों का स्त्री लेखन इसकी जरूरत को समझ रहा है। ब्राह्मणवाद हो, पितृसत्ता हो, बाजारवाद हो, उपभोक्तावाद हो–इन सबमें कहाँ तार आपस में जुड़ जाते हैं उसे पहचानने की निरंतर कोशिश इस लेखन में दिखाई दे रही है। वे समझ चुकी हैं कि टेलीविजन या संचार के दूसरे माध्यम इस मुनाफे के खेल के शिकार हो चुके हैं और मुक्ति यहाँ एक जुमला है वंचितों को फँसाने का। एक तरह वे समाज में सीधे–सीधे तमाम कठिनाइयों का सामना कर रही थीं कि इस पूरी प्रक्रिया ने उनके प्रति चली आ रही उपभोगवादी मानसिकता को कई गुना बढ़ा दिया। रजनी तिलक की यह कविता देखिए–आज/इस आधुनिक युग में/जब गर्भ में ही कन्या का वध होता है/वहाँ से बच जाए तो/दहेज की आग में/ससुराल में उसका होम होता है/नारी इस युग की त्रासदी है/पतित संस्कृति की गुलाम है/सुष्मिता सेन और ऐश्वर्या/वो बन रही हैं/पूँजीवादी मकड़जाल का खिलौना/सावित्रीबाई फुले/तुम इनसे अलग थीं।

अभय कुमार दुबे का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि भूमंडलीकरण ने पितृसत्ता के नए रूप रचे हैं। उनका कहना है कि भूमंडलीकरण ने औरत की देह, उसके श्रम, उसकी छवि, उसके सौंदर्य और कमनीयता का अतीत के किसी भी काल के मुकाबले सर्वाधिक दोहन किया।... उसने परंपरा और धर्म के अलावा आर्थिक आधुनिकीकरण और वैकासिक आग्रहों को भी नयी पितृसत्ता का जनका बना दिया, जबकि कभी इन दोनों को औरत की आजादी का संभावित जरिया माना जाता था। इस तरह भूमंडलीकरण के तहत पितृसत्ता और मजबूत हो गई ।[2] चर्चित कवयित्री सुशीला टाकभौंरे का मानना है कि वंचित समाजों के साथ बाजार के इस युग में अन्याय में इजाफा ही होगा। इसके साथ ही उन लड़ाइयों को धूमिल करने का, उन्हें स्मृतियों से मिटाने का प्रयास किया जाएगा जिसकी बदौलत स्त्रियों ने अभी तक जितना भी हासिल किया है। स्मृतियों में अब उन चीजों को चस्पाँ किया जाएगा जो हमारी नजर को बाजार के अनुरूप बना दे। इस संदर्भ में अनिता भारती भी ठीक लिखती हैं कि भूमंडलीकरण, बाजारीकरण के चलते उसके श्रम की कीमत दिन पर दिन कम होती जा रही है, जिसके कारण उसके परिवार पर व उसके ऊपर इसका सीधा असर पड़ रहा है। आर्थिक चुनौतियाँ सुलझने की जगह और उलझ रही हैं। घर और बाहर थोड़ा हो या बहुत, उसे ही मैनेज करना है। दलित स्त्रियों की शिक्षा की दर बहुत नीचे है, वे अधिकांशतः खेत और कारखानों में अल्प वेतन पर काम कर रही हैं। विकास के नाम पर उसे जल, जंगल, जमीन से वंचित किया जा रहा है। दलित आदिवासी लड़कियाँ देह व्यापार में और घरेलू कार्य की भट्टी में जबरदस्ती धकेली जा रही हैं, जहाँ उनके वेतनमान से लेकर काम के घंटे व छुट्टियाँ तक नियत नहीं है।[3] इसलिए ये स्त्रियाँ जनआंदोलनों की बात करती हैं, वैचारिक लड़ाई जारी रखने की बात करती हैं। शिक्षा वह माध्यम है जिसे बराबरी की दिशा में पहली सीढ़ी माना जा सकता है। इसीलिए स्त्रियों से लंबे समय तक यह सीढ़ी छीन कर रखी गई। आज जब संघर्षों के बाद वह दोबारा हासिल हुई है तो स्त्रियाँ उसकी हर दृष्टि से सुरक्षा पर आमादा हैं। वैश्वीकरण की प्रक्रिया की पहचान उन्हें और सहजता से इसलिए भी है कि वे देख रही हैं कि उनसे उनके स्कूल छीनने में यह कोई कसर नहीं छोड़ रहा

है। यह शिक्षा ही है जो पुरुषों की मानसिकता को बदल सकती है। वे उन माँगों के जाल में नहीं फँसना चाहती जो भूमंडलीकरण उनके लिए तैयार कर रहा है, वे अपने उन बुनियादी माँगों से टस–मस नहीं होना चाहतीं जिसकी बदौलत उन्हें कुछ समानता हासिल हुई है। अनिता भारती के शब्दों में उनकी इच्छाएँ कुछ अलग हैं–सुनो मलाला बिटिया/इन जंगली गिद्धों ने जबरन/बंद कराए थे जो चार सौ स्कूल/उनकी चाबी खोजनी है तुम्हें/क्योंकि ये फकत स्कूल नहीं/ये रोशनी की मीनारे हैं/जिस पर चढ़ना है तुम्हारी नन्ही सहेलियों को/जहाँ से नीचे झाँकने पर दुनिया के तमाम बदनुमा धब्बे/और ज्यादा साफ दिखाई देने लगते हैं।

पितृसत्ता और भूमंडलीकरण, दोनों ही हाशिए पर विद्यमान लोगों के अधिकार छीन लेना चाहते हैं। इसका चेहरा पहले से चले आ रहे शोषणों के तरीके से काफी अलग है। बजरंग बिहारी तिवारी लिखते हैं कि जातिमुक्त पुरुषवाद दलित स्त्री के सामने उभरता हुआ नया प्रश्न है, नई चुनौती है। यह भूमंडलीकृत बाजार का उत्पाद है। लुभावना, श्लिष्ट और सर्वग्रासी। दलित स्त्री के श्रम का, उसकी देह का दोहन इस नई आर्थिकी में मौजूद है। सार्वजनिक क्षेत्रों का कार्पोरेटीकरण गुलामी के नए दौर की शुरुआत के रूप में देखा जाना चाहिए। सरकार जिसे उदारीकरण कहती है वह जंगल, जल और जमीन को निजी हाथों में सौंपने का अभियान है।... पुरानी व्यवस्था से कहीं ज्यादा चाक चौबंद, जानलेवा और संकीर्ण नई उदारीकृत तकनीक सक्षम यह भूमंडलीकृत व्यवस्था है।[4] पिछले बीस–तीस वर्षों में छद्मता और भ्रम की इन निर्मितियों का अत्यधिक विस्तार हुआ है और हमारे समय में इस भ्रम से मुक्ति दिलाना साहित्य का भी दायित्व है। ये निर्मितियाँ हर तरफ हैं और लेखिकाओं को स्वयं इन निर्मितयों से मुक्त रहने के लिए प्रयासरत रहना होगा, तभी रचना का मुक्त होना संभव है। वैश्वीकरण के दबाव में आज हमारी चेतना तभी बची रह सकता है जब वैश्विक स्तर पर राष्ट्रों के साथ, अस्मिताओं के साथ, प्रकृति के साथ और सबसे बढ़कर मानवीय जीवन और उसके सौंदर्य के साथ हो रहे खिलवाड़ की हम और भी गहरी संवेदनात्मक समझदारी विकसित करें। यह काम कोई एक अस्मिता नहीं कर सकती, न ही यह संभव है। इस दौर के स्त्री–लेखन ने दिखाया है कि वंचित समाजों को एक सुर में और अधिक मुखरता के साथ सामने आना होगा। वंचित समाजों की लेखिकाओं ने यह दिखाया है कि जिस दिशा में हमारा विश्व और समाज जा रहा है परिवर्तनकामी चेतना हर उस रचनाकार में होनी चाहिए जो समतावादी समाज का आकांक्षी है। इस सदी में हमारा ध्यान उन सारे तबकों की ओर होना चाहिए जो इस लड़ाई को अकेले–अकेले आगे नहीं ले जा सकते, वह भी यह ध्यान रखते हुए कि प्रतिपक्ष की शक्तियाँ विभाजनकारी नीतियों के माध्यम से अलगाव और फूट न पैदा कर सकें। स्थितियाँ कुछ ऐसी हो चुकी हैं कि दरारों की गुंजाइश अब ज्यादा बची नहीं है।

शीतांशु एसोसिएट प्रोफेसर हिन्दी विभाग, असम विश्वविद्यालय, दीफू परिसर, दीफू, असम फोन–9435173696

संदर्भः–

1. शीतांशु, वैश्वीकरण और दलित साहित्य, ईपीजी पाठशाला, यूजीसी–इन्फ्लिबनेट वेबसाइट से।
2. अभय कुमार दुबे, भारत का भूमंडलीकरण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 54
3. अनिता भारती, बजरंग बिहारी तिवारी (सं), यथास्थिति से टकराते हुए : दलित स्त्री जीवन से जुड़ी कहानियां, लोकमित्र प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पृ. 15
4. अनिता भारती, बजरंग बिहारी तिवारी (सं), यथास्थिति से टकराते हुएरू दलित स्त्री जीवन से जुड़ी कविताएँ, लोकमित्र प्रकाशन, दिल्ली, 2013, पृ. 356

अर्थाभाव के संदर्भ में 'विधवा स्त्रियाँ'

– डॉ. निलोफर मंजूर

समाज के कटुतम संकटों में आर्थिक संकट मनुष्य के जीवन में सबसे अधिक बिखराव लाने वाला संकट कहलाया जाता है। यह संकट जिस किसी के घर, परिवार तथा देश में प्रवेश करता है, वह घर, परिवार और देश भुखमरी, घुटन, गरीबी जैसी दुश्वारियों की लपेट में आ जाता है। परन्तु जब यहीं संकट एक विधवा स्त्री पर प्रकति का प्रकोप बनकर बरसता है, तो वह दुर्बल पड़ जाती हैं, क्योंकि हिन्दू परम्परा के नियमानुसार एक स्त्री आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से पुरूष पर ही निर्भर रहती है उसका कर्त्तव्य केवल इतना ही होता है कि वह अपने पति के जीवन को सुखमय बनाने के लिए सदैव प्रयतनशील बनी रहे। परिवार का उच्च–संचालन करना, बच्चों की देख–रेख करना, उसका आवश्यक कार्य माना जाता है। एक नारी का कार्य–क्षेत्र उसका घर–परिवार होता है, न कि समाज। सामाजिक जीवन के साथ उसका कोई संबंध नहीं होता है बल्कि उसे परिवार का आधार स्तम्भ मानकर घर के प्रत्येक सदस्य की जिम्मेदारी सौंप दी जाती है। यद्यपि एक नारी को अर्थोपार्जन का अवकाश दिया गया होता, तो 'विधवा' जीवन की विषम तथा कठिन परिस्थिति में वह आज ऐसे अभावों तथा दुःखों के घेरे में न आ जाती जिसे 'अर्थाभाव' की संज्ञा दी गई है।

'अर्थाभाव' प्रारम्भ से ही नारी के लिए चिन्ता का विषय रहा है। इसके कारण नारी अपने जीवन में तरह तरह के कष्टों का सामना करती आ रही है। समाज में विभिन्न तरह की धारणाएं बनाकर एक नारी को आर्थिक क्षेत्र में पुरुष के समान अवसर प्राप्त नहीं हुए जिसके कारण वह पुरूष पर आश्रित हो गई। उसके जीवन की सार्थकता शिशु को जन्म देकर उसे बड़ा करने में है। अपने भविष्य से सम्बन्धित निर्णय लेने के अधिकार उससे छीनकर केवल मातृत्व का पाठ पढ़ाकर पुरुष के संरक्षण में ही रखा गया है । आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त होने पर पुरूष जीवन में आगे बढ़ता चला गया और नारी पुरूष की कैद में बंधकर उस पर आश्रित होती गई । इस प्रकार शारीरिक दृष्टि से दुर्बल कहीं जाने वाली नारी अपनी व्यक्तिगत पहचान खोकर पुरुष–प्रधान समाज की गिरफ्त में आ गई। जीवन के आरम्भ में वह पहले अपने पिता पर आश्रित रहती है, विवाह के बाद उसे अपने पति के आश्रय में रहना पड़ता है और जीवन के अंतिम दौर में पुत्र को बुढ़ापे की लाठी कहकर उसे उसके संरक्षण में ही छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार नारी आर्थिक रूप से स्वतंत्र न होकर जीवन के आरिम्भक दौर से लेकर जीवन के अंतिम दौर तक पुरूष पर ही निर्भर रहती आई है। विधवा नारी का जीवन किसी भी दृष्टि से वैसे भी समाज में मानवीय नहीं समझा जाता है। किसी के सम्मुख बोलना, किसी भी मंगल कार्य में जाना उसके लिए वर्जित तथा अपशकुन माना जाता है। ऐसी स्थिति में एक विधवा नारी का आर्थिक संकटों से जूझना स्वाभाविक ही है। 'अर्थाभाव' के सन्दर्भ में यदि हम उच्च वर्ग की विधवा स्त्रियों की बात करें तो उनमें पिछड़ापन नहीं होता हैं, क्योंकि उनकी आर्थिक स्थिति संयत होती हैं। उनका जीवन भौतिक सुख–सुविधाओं से भरा हुआ होता हैं। उनके पास धन होता हैं, पहनने को प्रतिदिन अच्छे और नए–नए वस्त्र होते हैं, विधवा होते हुए भी वह अपना और अपने बच्चों को भर–पेट खाना खिला सकती हैं। दूसरी ओर निम्न वर्ग की विधवा स्त्रियां जो अत्यधिक परिश्रम करने के बावजूद ही अपने और अपने बच्चों के लिए भोजन सामग्री जुटा पाती है। परन्तु मध्यवर्गीय परिवार से सम्बन्ध रखने वाली विधवा स्त्रियों की आर्थिक स्थिति उचित नहीं है जिसके कारण उनके जीवन में असंख्य उतार –चढ़ाव दिखाई देते हैं। उनके पास न तो धन होता है और न ही वह मेहनत–मजदूरी करके अपनी जीविका अर्जित कर सकती हैं, क्योंकि

मध्यवर्गीय समाज सुधारकों के नियमानुसार उनकी बहु–बेटियां जीवन में केवल दो ही बार घर से बाहर कदम रख सकती हैं। एक बार तब जब वह डोली में बैठकर अपने पति के घर चली जाती है, दूसरी बार तब जब उनकी अंतिम यात्रा निकाली जाती है। इससे पहले वह अपने घर के बाहर कदम नहीं रख सकती हैं। इन खोखली मान्यताओं को जीवित रखने के लिए हजारों विधवाओं को घर के भीतर ही भूख से तड़प–तड़प कर मर जाना पड़ा। सामाजिक तथा पारिवारिक रूढ़ियों के बंधन उन पर हावी हो गए थे। झूठी इज्जत बचाने के प्रयास में यह निर्धन वर्ग अन्दर ही अन्दर पिसता एवं घुटता चला गया। मध्यवर्गीय समाज की झूठी मान–मर्यादाओं ने आर्थिक संकट से जूझती हुई विधवा स्त्रियों को पूरी तरह जकड़ के रख दिया हैं। परिवार में बार–बार तिरस्कृत होने के बाद वह अपने आपको समाज में स्थापित नहीं कर पाई। इतना ही नहीं अर्थाभाव के वातावरण में इन विधवाओं को न केवल पुरुष का कठोर शासन सहना पड़ा बल्कि अपनी इच्छाएं तथा आकांक्षाएं भी कुंठित रखनी पड़ती हैं। ये विधवायें समाज के कटुतम यथार्थ को अपनी खुली आंखों से देखती रही और जीवन की कुंठा, वैषम्य एवं अंतर्विरोधों का शिकार होती गई । उनका जीवन आंतरिक एवं बाह्य उलझनों की विकृत परिस्थितियों का जोर पकड़े हुए है जिसके कारणवश वह सामाजिक परम्पराओं के सीमित दायरे में ही सिमट कर रह गई। अपने जीवन को नए अर्थ तथा नए मोड़ देने की अपेक्षा वह अपने वर्तमान तथा भविष्य के प्रति भयभीत एवं असहाय सी जी रही हैं। "स्त्रियां कैसी हों, वे कैसे रहें, कैसे चलें, कैसे बैठें, कैसे हंसे, कैसे बात करें, पुरुष ने अपने विचारों और अवधारणा के अनुसार स्त्री का निर्माण किया है। स्त्री ने स्वयं अपने बारे में अपनी भावना, अपने इतिहास, अपनी इच्छा– अनिच्छा के बारे में कभी कुछ नहीं कहा ।" क्योंकि अपने जीवन से संबंधित निर्णय लेने का अधिकार पुरूष ने उसे कभी दिया ही नहीं।

आर्थिक अभाव से पीड़ित विधवाओं के मन की सुलगती हुई इन कुंठाओं का एक सशक्त उदाहरण हमें समकालीन लेखिका कुसुम अंसल जी के उपन्यास (तापसी) में अच्छी तरह देखने को मिला है। कुसुम अंसल जी का यह उपन्यास वृन्दावन की विधवा महिलाओं की दयनीय स्थिति को अच्छी तरह दर्शाता है। यूं तो इस उपन्यास की प्रायः सभी नारी पात्र 'अर्थाभाव' की शिकार हैं। परन्तु इन विधवाओं में जो इस अर्थाभाव से सबसे अधिक पीड़ित दिखाई देती है, वह है 'वृन्दा'। यद्यपि वृन्दावन के विधवा आश्रम में रहती इन सारी विधवाओं को थोड़ा बहुत ही भोजन प्राप्त होता था, लेकिन वृन्दा, जो अपनी बेटी (चुनियां) के साथ इस आश्रम में रहती थी बेटी की खातिर उसको अपनी आधी रोटी के भी दो हिरसे करने पड़ते थे एक स्वंय के लिए, दूसरा अपनी बेटी चनियां के लिए। इस प्रकार भोजन के अभाव से वृन्दा इतनी पीड़ित थी कि वह उच्च और स्वस्थ जीवन की अधिकांश सुविधाओं से जीवन भर वंचित ही रही। परन्तु अर्थाभाव का यह दयनीय प्रसंग यही पर समाप्त नहीं होता है बल्कि भयानक रूप तब लेता है जब एक दिन वृन्दा जैसी अन्य भाग्यविहीन विधवायें भजन, कीर्तन के स्थान पर आश्रम के अन्य ही कार्यक्रम में कार्यरत थी। यह कार्यकम अन्य दिनों के कार्यक्रमों से बिल्कुल ही भिन्न था, क्योंकि अम्बिका देवी ने सभी विधवाओं को स्टोर में से सामान निकालने का काम सौंप दिया था एवं सभी विधवायें अम्बिका देवी के कहने पर इस काम में पूरी तरह व्यस्त थी। जैसे "भाग्यवती और वृन्दा स्टोर में से सामान निकालकर ला रही थी। नूराबाई गिनवा रही थी – पाँच सौ कम्बल, दो सौ साड़ियां, गरम शाल, स्टील के गिलास, थालियां। तापसी रजिस्टर में लिखती जा रही थी, कुर्सी पर एक धोती–कुर्ता धारी दलाल टाईप आदमी आराम से बैठा पर्ची बना रहा था । ऐसे में वृन्दा के मन में एक आशा की किरण उद्धृत होने लगी, और वह तुरंत जाकर आश्रम की शासक अम्बिका देवी से कहने लगती है "बहनजी,

एक कम्बल मुझे दे दो ना बहुत फट गया है मेरा कम्बल। रात को ताप चढ़ता है तो काँपती रह जाती हूं।'' इतना सा कहने पर अम्बिका देवी आपे से बाहर हो गई, और वृन्दा के ऊपर डंडों की बरसात शुरू करने लगी। मार खाने के उपरान्त वृन्दा स्वयं ही मौन हो जाती है। परन्तु जब वृन्दा अम्बिका देवी से याचना कर रही होती है, उस समय धोती–धारी दलाल वहीं पर उपस्थित होता है । वह यह सब दृश्य अपनी आंखों से देखता है। वृन्दा जैसे ही स्टोर से बाहर आ जाती है अम्बिका देवी से छुपाकर एक कम्बल उस धोती–धारी ने वृन्दा को पकड़ा दिया था। साथ ही अपना पता लिखा पर्चा ... ही – ही – ही... ले – ले... कल रात आ जाना... ही – ही – ही ।"' इस प्रकार धोती – धारी दलाल ने वृन्दा की दयनीय स्थिति का भरपूर अनुचित लाभ उठाया तथा वृन्दा भी अर्थाभाव के कारणवश विवश होकर अपने आपको उस दलाल के हाथों बेच देती है। क्योंकि दुःखी जीवन यात्रा का अथक प्रयास करते – करते तथा असहनीय बोझ को ढ़ोते–ढ़ोते वह इस विधवा आश्रम में पहुंच गई थी। परन्तु जीवन और जगत् के हर सत्य को देखने के पश्चात् वह इसी निष्कर्ष पर पहुंचती है कि जीवन में केवल उसके लिए दुःख ही दुःख है शेष कुछ नहीं ।

यद्यपि कुसुम जी ने इस भयावह स्थिति का यथार्थ चित्र वृन्दा के माध्यम से उपन्यास में प्रस्तुत किया है, तथापि लेखिका जी ने यह बात भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आर्थिक स्थिति या अर्थाभाव के कारण ही एक विधवा अन्य पुरुषों का आश्रय लेने के लिए विवश हो जाती है क्योंकि अपने लिए मांगने का अधिकार अम्बिका देवी जैसी शासकों ने इन विधवाओं से छीन लिया है। इन विधवाओं का जीवन एक ओर अत्याचार सहने के कारणवश पशुवत जैसा हो गया था तथा दूसरी ओर आर्थिक स्थिति से मुक्ति पाना इनके लिए असंभव–सा प्रतीत होता दिखाई देता था। कहने का तात्पर्य यह है, कि अर्थ के बिना इनका जीवन अर्थहीन हो गया था। यूं तो प्रत्येक वर्ग की विधवाओं की भिन्न–भिन्न समस्यायें है। परन्तु आर्थिक विषमताओं से निम्न वर्ग की विधवायें अत्यधिक पीड़ित हैं। विधवाओं का यह समस्त ढाँचा आर्थिक स्थिति की दृष्टि से अत्यंत कमजोर है। इन व्यक्तित्वहीन, रूढ़िग्रस्त विधवाओं की आर्थिक पराधीनता ही उनकी गुलामी का कारण है। आर्थिक विपन्नता से परेशान इन विधवाओं के पास जब रोजी–रोटी का कोई साधन नहीं बचा तो उन्होंने 'वेश्यावृति' को अपना लिया। मध्यवर्गीय परिवार से संबंधित विधवाओं की तरह इन पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं लगा था। इसलिए अपनी जीविका चलाने के लिए और 'अर्थाभाव' से बचने के लिए इन्होंने 'वेश्यावृति' का ही सहारा लिया ।

परिणामत : अर्थाभाव से उत्पन्न होने वाली परिस्थितियों को गहराई से जानने के पश्चात् यही निष्कर्ष निकलता हैं, कि अर्थव्यवस्था पर ही समाज का संपूर्ण ढाँचा निर्भर होता हैं। मानव जीवन का आधार पूर्ण रूप से अर्थ पर ही निर्भर हैं। आर्थिक जीवन की प्रथम तथा अनिवार्य आवश्यकताएं पूर्ण न होने से एक व्यक्ति को अनेक समस्याओं से जूझना पड़ता हैं। अतः वे समस्यायें वैश्यावृति के रूप में भी हमारे समक्ष उपस्थित हो सकती।

शा. महिला डिग्री कॉलेज, अनंतनाग
मोबा. 6005284920

संदर्भः–

1. क्षमा शर्मा स्त्रीत्ववादी विमर्श समाज और साहित्य पृ– 128
2. कुसुम अंसल रचनावली (उपन्यास) खण्ड– 4 तापसी, पृ – 241
3. वही, पृ.– 241
4. कुसुम अंसल रचनावली (उपन्यास) खण्ड– 4 'तापसी', पृ. – 242

Politics of Dalits: Mapping the Identity and Assertion in Telangna

* Dr. Rajesh Kota
**Dr.Ravi Sabavath

India, the sub-continent of Asia has some unique features with regard to political, economical and cultural aspects. Among these, the social and cultural scenario of India is highly complicated. Caste system, a heinous social practice exists nowhere in the world but for Indian sub-continent. As its origins are difficult to trace, its end is also seeming nowhere in near future. Dalits, who happens to be at the lowest rung of the caste system, is still fighting against the system through relentless struggles with undaunted spirit. Caste in India was not simply produced by Hindu religious texts but shaped by ecologies, languages, religion, modes of production and political system. The exploitation of the subordinate castes in India occurs through social relation rather than economic relation.

The main assumption of this article is that given the Indian specificity, the caste question has to be central and integral to any movement. In that sense caste is played an important role in Telangana statehood movement. This article attempts to contextualise source of the actual and real tensions within movement in Telangana. Telangana.

***Key words**: Dalit, Class, Movement, Cultural, Dichotomises, Tension, Interface, Telangana.*

Introduction

The united Andhra Pradesh experienced Dalit struggles differently in deferent regions of the state. It presents a paradoxical picture to the received understanding of both Marxist and Liberal frameworks. While the backward regions like Telangana has become hot bed of Class-centred struggles spearheaded by the Naxalites, the Coastal Andhra with its highly developed commercial farming following green revolution experienced vocal and aggressive Caste assertions. The Karamchedu in 1985 and Chundur in 1991 carnage stand as examples. The Dalit movement in Coastal-Andhra attracted wider intellectual support, due to this background of massacres in advanced pockets and an increasing middle class Dalit presence in a wide range of civil society articulations, such as civil rights, Ambedkarite caste associations and mainstream political parties. Even, it pushed left parties to state their stand on caste. The Dalit Maha Sabha (DMS) and other caste organisations, mainly, which was

emerged in response of these Dalit Massacres tried to sustain the Identity politics.

Trajectory of Assertion and Identity in different junctures

The issue that the CPI (ML) groups focussed during this period represented predominantly the problems of Dalit in a feudal situation. Thus it made the Dalits join the rank and file of the radical groups. The Radical left parties focussed mainly on four related issues which denied the Dalits access to resources:

1. Land distribution
2. Vetti
3. Untouchability and
4. Atrocities on Dalits.

It is also important to make a note of important omissions in the way the Left parties articulated the issue of land reforms before the Naxalite movement took roots in the country. The land reforms agenda carried two significant issues first the tenancy protection laws which actually secured the land to the relatively privileged sections of the society resulting in the entrenchment of the dominant castes and the second, land to the landless which remained to be significantly addressed and insufficiently implemented. The issue of land distribution among the landless rendered possible the rapid spread of the movement across the country.

From the mid 90's onwards the left radicalism has been on the decline and moving away from the concrete issues emerging from the changing politico-economic scenario. Violence, no working with the masses, has become the only instrument of transformation for these groups. Three reasons are extended or this decline: One the rise of identities on the lines of Dalit, Gender, Adivasi etc, challenged the Class based struggles, two, the penetration of market economy transforming the rural side, and three, the increased state repression and consequent counter 'counter violence' launched by the Naxalite Parties themselves. All the three together led to the insulation o Radical Left politics.

Reframing the narrative o the trajectory o radical left movement in the state better appreciates the elements o autonomy in the rise of Dalits as an agency. The issues of Dalits *ala* untouchability, denial of access to resources etc, have been pre-existing to the let movement in the country. Similarly, there had been attempts to conceptualise the issues and lead the movements. The anti-caste movements particularly on the lines of

Ambedkar's thought already gained a solid ground in the imagination of Dalits. A major part of Ambedkar's thought is concerned caste foundations of property claims in the Indian society.

It is interesting to note the observations of Dalit activists in the 1990's on the radical left movement in retrospect. They observe that the Dalits' engagement with left politics implicitly had Dalit specificity. Thus the radical left could rally the Dalits on the issues of land distribution, atrocities on Dalits in massive numbers.

We see two important changes in the CPI (ML) politics in general and the peoples' War Group in particular. One is the shift to popular mobilisation by strengthening mass front organisations like RSU, RYL, and JNM in the cultural front. Second is the clear direction to bring the subaltern social groups into the movement not in terms of class but in specific caste terms as SCs, artisan and occupational communities.

Dalit Identity in Telangana Movement

Ever since the formation of Andhra Pradesh, there has been discrimination against Telangana in resource allocation, development schemes, education of locals, and employment generation. Injustice and discrimination are also evident in denying spaces in Telangana and Telanganites in decision-making economic, political, social and cultural spheres. In fact, this is only a continuation of the state policy, as Telanganites could not get their share.

The state of Andhra Pradesh has a distinct place in the history of social movements in India, having witnessed movements by Peasants, Dalits, Tribals, women and Naxalites. The Telangana movement is not merely the demand for statehood, but also for demand for economic and cultural autonomy, from the Andhra region. The rebirth of the Telangana movement in the 1990s raised the question of distribution of land, self respect, and self rule for an equal share in political and economic domains, along with bifurcation of the state. The movement is rooted in a historical context and development model. The regional disparities, in economic, social and cultural spheres, are a part of reality.

Telangana Movement is one of very few mass movements which have witnessed participation from all sections of people. The movement gave enough hope to every section of people to come out and protest against the Government. And also they brought in their own issues with them to be addressed. Telangana movement is a

conglomeration of hundred demands and thousand wishes. Based on the issues there are many perspectives to the movement, of which I will consider the most prominent ones for my analysis.

Telangana Movement: A Caste Perspective

The people who looked at Telangana from caste perspective, mainly, consisted of Dalits. In the initial stage, these agencies also fought against the discrimination and exploitation by Andhra (caste/class dominance) leaders and capitalists as everybody else. Its only late in the movement they began to question the movement on caste lines.

The movement for separate statehood is a political articulation of various social identities for due share in the resources which was denied to them in the integrated state. These concerns were presented in the form of '*samajika* Telangana.' The demand for separate state was not driven by primordial loyalties. Social dynamics in Telangana clearly indicate that the struggle was driven by an urge for inclusive growth. It is in the context that the development discourse needs to be given serious consideration. Future mobilisation will take place around the issue of development.

Conclusion :

With all these ideological differences and limitation, I have argued in this article that post Ambedkaraite Dalit movements in Telangana has got its roots in Radical Left Movement in this region. Left Movement has successfully exposed the hegemony of upper castes on Dalits and gave Dalits a cause and reason for united struggle against the oppressive regime. This consciousness has helped the Dalit in furthering their cause and fight for the social justice.

Finally, a consensus, or even an agreement, between these two forces of changes can only be built if both manage to move beyond the contestations of the past and also liberate themselves from their specific ideological canons to be open to constructing new radical alternatives. For both the Dalits and the Marxists, there is need to rethink their theoretical model based on the doctrines of Ambedkar and Marx.

References

Ajay Gudavarthy, Dalit and Naxalite Movements in AP: Solidarity or Hegemony? *Economic and Political Weekly*, Vol. 40, No. 51 Dec. 17-23, 2005.

Balagopal. K, "Telangana Movement Revisited', *Economic and Political Weekly*, Vol. 18, No. 18 Apr. 30, 1983.

Francine R.Frankel, India's Political Economy 1947-2004: The Gradual Revolution, *Oxford University Press,* 2005.

Jagithyala Jungle Mahal: Viplavodyama Charitraka Rachanalu. Vol. 2. Hyderabd:VirasamPrachuranalu, 2012.

Laxamaiah.Mallepalli, "Nurella Telugu Dalitodyamam", Hyderabad: Samantaara Publications, Vol.1, Issue.2, May 2007.

Patil.Sharad, "Ambedkarism-Marxism",Tarakam, Bojja.,(Ed.), Nalupu(Telugu Magazine) Hyderabad: Hyderabad Book TrustPublications,Vol.4, Isue.6, August1-15, 1992.

Personal Interview with Chalapathi Rao (leader of Rythu cooli Sangam in Sircilla), on 04th, 2014.

Reddy .Gaddam , Krishna. Documenting the Dalit Movement in Andhra Pradesh, ICSSR Major Project Report (an un published article) 2004.

Sircilla Rythanaga Poratam-Porvaparalu(Telugu): Vijayawada: Andhra Pradesh CPI(ML)-Janashakthi State Committee Prachuranalu, 1994.

Srinivasulu K. Caste, Class and Social Articulation in Andhra Pradesh: Mapping Differential Regional Trajectories, Overseas Development Institute, London, UK, 2002.

Sumanta Benerjee, On the Naxalite Movement: A Report with a Difference, Economic and Political Weekly, Vol. 43, No. 21, May 24 - 30, 2008, Pp.10-12

Sundaraiah, P. Telangana People's Struggle and its Lessons. New Delhi: Foundation Publication, 1972.

Thirumali Inukonda. Against Dora and Nizam: People's Movement in 1939-1948. New Delhi: Kaniska Publishers, 2003.

Viplava Rachayithala Sangam. Jagithyala Jungle Mahal: Viplavodyama Charitraka Rachanalu. Hyderabd: Virasam, 2012.

ग्लोबल गाँव के देवता एवं भूमण्डलीकरण का प्रभाव

– त्रिनेत्र तिवारी (शोधार्थी)

हम मनुष्य पारिस्थितिक तंत्र के एक सदस्य मात्र है। सभ्यता के शुरुआत से ही मनुष्य अपने सीमित ज्ञान के द्वारा प्रकृति और पारिस्थितिक के बारे में समझने की कोशिश करता रहा है। साहित्य और सभ्यता के बीच ऐसा रिश्ता होता है, कि जो भी तात्कालिन सभ्यता में घटित होता है उसे उस समय का साहित्य अपनी अभिव्यक्तिओं में स्थान देता है।

1990 के बाद हमारे देश में शुरू हुए भूमण्डलीकरण ने जहां एक ओर आर्थिक विकास किया, वही दूसरी ओर इसके पर्यावरणीय और पारिस्थितिकी प्रभाव भयावह साबित हुए। समकालीन हिंदी उपन्यासों में यह बात सशक्त रूप से दर्ज की गयी। इन उपन्यासों में एक महत्वपूर्ण उपन्यास है 'ग्लोबल गाँव का देवता'। यह उपन्यास 'रणेन्द्र' द्वारा लिखा गया।

'रणेन्द्र' ने अपने उपन्यास 'ग्लोबल गांव के देवता' में एक ऐसे समाज को केंद्र बिंदु माना है जो आज के दौर का सर्वाधिक शोषित एवं वंचित आदिवासी समाज है। विस्थापन की त्रासदी भूमंडलीकरण के भयावह परिणामों में से एक है। विस्थापन की प्रक्रिया से किसी समाज का केवल सामाजिक, आर्थिक एवं भौगोलिक परिवर्तन ही नहीं होता बल्कि उसके साथ ही उस समाज का सांस्कृतिक एवं चेतनागत स्वरूप का भी आमूल–चूल परिवर्तन होता है। लेखक ने असुर जनजाति के संघर्ष गाथा के माध्यम से दुनिया के अनेक भागों में फैले हुए आदिवासियों एवं विस्थापितों के संघर्ष की पड़ताल की है। मसलन अमेरिका महाद्वीप में इका, माया और सैकड़ों 'रेड इंडियन' की मूक हत्याएं भी झारखंड असुरों के संघर्ष से अलग नहीं है। उन्हें भी आधुनिकता के तथाकथित ठेकेदारों ने असहिष्णुता और बर्बरता कहकर कुछ इसी तरह मौत के घाट उतारा था।

'ग्लोबल गांव के देवता' असुर समुदाय के अनवरत जीवन संघर्ष का दस्तावेज है। देवराज इंद्र से लेकर ग्लोबल गांव के व्यापारियों तक फैली शोषण की प्रक्रिया को रणेन्द्र ने उजागर किया है। हाशिये के मनुष्यों का सुख–दुख व्यक्त करता यह उपन्यास झारखंड की धरती से उपजी एक महत्वपूर्ण रचना है। यह उपन्यास असुर समुदाय के लोगों के निरन्तर संघर्ष का लेखा–जोखा है। उपन्यास में जिन आदिवासी समस्याओं को दिखाने का प्रयास किया गया है वे सिर्फ आज की समस्याए नहीं हैं बल्कि ये समस्याएं प्राचीन काल से चली आ रही हैं। इस उपन्यास को पढ़ते समय पता चलता है कि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियां भी इनका शोषण किया करती हैं। इस उपन्यास की दृष्टि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों पर भी पड़ी है। झारखंड मे अनेक कम्पनियां आती हैं जो यहाँ के जमीन से खनिजों को अत्यधिक मात्रा में निकाल कर ले जाती हैं और वहा के लोगों को दफन होने के लिए केवल गढ्ढे छोड़ जाती हैं। जिनमें बरसात के दिनों में पानी भर जाने की वजह से मच्छर जन्म लेते हैं। इस वजह से इलाके मे घातक एवं भयावह बिमारियां फैल जाती हैं।

उपन्यास के माध्यम से रणेन्द्र ने सबसे पहले असुर कहे जाने वाले आदिवासी लोगों के प्रति प्रचलित मिथक को तोड़ा है। जब लेखक की मुलाकात पहले पहल लालचन असुर से होती है तो उसकी असुरों के प्रति पोषित पूर्व धारणाएँ खंडित हो जाती हैं। लेखक के अनुसार–**'असुरों के बारे में मेरी धारणा थी कि खूब लम्बे चौड़े, काले कलूटे, भयानक दाँत–वाँत निकले हुए, माथे पर सींग–वींग लगे हुए लोग होंगे, लेकिन लालचन को देखकर सब उलट–पलट हो रहा था।'** एक अन्य सन्दर्भ में भी एक और ऐसा ही दृश्य दिखाई पड़ता है –**"आज हर बात मुझे चौका रही थी। लग रहा था कि हफ्ता दिन बाद आज आँखें खुली हों। यह छरहरी–सलोनी एतवारी भी असुर ही है, यह जान कर मेरी हैरानी बढ़ गयी थी। हफ्ता भर से इसे देख रहा हूँ ,न सूप जैसे नाखून दिखे, न खून पीनेवाले दाँत। कैसी– कैसी गलत धारणाएँ! खुद ही अजब–सी शर्म आ रही थी...**[1]

"दुनिया के हर समाज में कुछ न कुछ भ्रांतियां, पूर्वाग्रह और अन्धविश्वास होते ही हैं। रणेन्द्र के इस उपन्यास को पढते हुए आदिवासियों की यह कमजोरी स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। उपन्यास के शुरूआत में ही एक अदिवासी असुर युवक के घायल होने का कारण अन्धविश्वास ही है। यहाँ एक अन्धविश्वास प्रचलित है की **"दरअसल अब भी कुछ लोगों के मन में यह बात बैठी हुई है कि धान को आदमी के खून से सानकर बिछड़ा डालने से फसल बहुत अच्छी होती है।**[2] ऐसे ही अन्धविश्वास के चलते लालाचन का सर मूड़ीकटवा लोग काट ले जाते हैं। ऐसे अन्धविश्वासों के साथ ये सदियों से जीते आ रहे हैं।

आज के समय में शिक्षा हमारे विकास के लिए आवश्यक कारक है। शिक्षा की कमी से कोई भी समाज अपने भले बुरे की पहचान भी नहीं कर पाता है। एक तरह हम इनके पारंपरिक ज्ञान और अनुभव को आधुनिक समाज में कोई महत्त्व नहीं देते वहीं दूसरी ओर औपचारिक प्राथमिक शिक्षा का एक बहुत थोडा हिस्सा इन जनजातियों को प्राप्त होता है। इस तरह ये आदिवासी लोग अपने पारम्परिक ज्ञान को भूला देते हैं और औपचारिक शिक्षा इन्हें मिल नहीं पाती है। लेखक द्वारा इनकी शिक्षा व्यवस्था पर छाई धाँधलियों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया गया है। जिस शिक्षा के लिए आदिवासी लोगों को आधार बनाकर स्कूल खोले जाते हैं, स्कूल खुलने पर वह आधार (आदिवासी) ही गायब हो जाता है अर्थात शिक्षा से उन्हे बेदखल कर दिया जाता है और उन शिक्षण संस्थाओं पर उच्च वर्ग का कब्जा हो जाता है। इन स्कूलों में नाम मात्र के ही असुर समुदाय के बच्चे पढ़ते हैं। बाकी तो होता वही है जो आज तक होता रहा है, मुख्यधारा के लोगों का उनके संसाधनों पर कब्जा। उदाहरण के लिए इसी उपन्यास का यह अंश दृष्टव्य है–**"लेकिन एक और बात की ओर लालचन और रुमझुम ने इशारा किया। भौरापाट स्कूल आदिम जाति परिवार की बच्चियों के लिए खोला गया था। किन्तु उसमें पढ़ने वाली असुर– बिरिजिया बच्चियों की संख्या दस प्रतिशत से ज्यादा नहीं थी। ज्यादतर बच्चियाँ हेडमिस्ट्रेस और टीचर्स के गाँव की और उनकी ही जाति, उरांव–खड़िया, खेरवार परिवार की थीं।**[3]

उपन्यास आदिवासी समाज की स्त्रियों को भी साथ लेकर चलता है। आदिवासी महिलाओं के संघर्ष और उनकी विवशता को भी रणेंद्र ने बखूबी दिखाया है। आदिवासी स्त्रियों व लड़कियों को रूपये का लोभ देकर ठेकेदार मुंशी अपने पास बुलाते हैं। इसकी व्यथा उपन्यास में दिखाई पड़ती है। आदिवासी नौजवानों के मुँह से यह गीत अक्सर सुनाई पड़ता है–

"काठी बेचे गेले असुरि,
बाँस बेचे गेले गे,
मेठ संगे नजर मिलयले,
मुंशी संग लासा लगयले गे,
कचिया लोभे कुला डुबाले,
रूपया लोभे जात डूबाले गा।[4]

खदान के मेठ, क्लर्क, अफसरों के डेरों में काम करने वाली महिलाओं के रंग–ढंग देखते–देखते बदल जाते हैं। यह गीत इनकी सच्चाई को दिखाता तो है ही साथ ही समाज के सामने अपनी शिकायत भी दर्ज कराता है कि मुख्यधारा के तथाकथित विकसित समाज का हमारे साथ ऐसा व्यवहार क्यों हैं।

उपन्यासकार ने जिस झारखंड राज्य को अपनी कथा का केन्द्र बनाया है उस राज्य की धरती के गर्भ में अपार खनिज–सम्पदा है। जिसका पूरा उपयोग वहाँ की सरकारें करती हैं, फिर भी वहाँ के लोगों को इस खनिज संपदा का कोई लाभ नहीं मिलता है। इसका उदाहरण उपन्यास में दिखाई पड़ता है **"अभी तो आप आये ही हैं। देखिएगा कि मक्का की एक बरसाती फसल के भरोसे जिन्दगी कितनी कठिन हो जाती है। मजदूरी और जंगल का सहारा ना हो तो लोग आसाम और भूटान निकल जायेगें लेकिन एक तरफ इन खानों ने मजदूरी दी, तो दूसरी तरफ बर्बादी के सरेजाम भी खड़े किये। पिछले पच्चीस तीस सालों मे खान मालिकों ने जो बड़े– बड़े गड्ढे छोड़े हैं बरसात में इन गड्ढों में पानी भर जाता है**

और मच्छर पलते हैं। सेरेब्रल मलेरिया यहाँ के लिए महामारी है, महामारी।[5]

उपन्यास में ग्लोबल गाँव के सभी आदिवासी समस्याओं को ध्यान देते हुए लालचन दा और रूमझुम इलाके मे हो रहे अवैध खनन को रोकने के लिए वहाँ के कलेक्टर को दरख्वास्त देते हैं पर कलेक्टर इस जाँच के लिए एक भ्रष्ट अधिकारी को जिम्मेदारी दे देते हैं। जिसके कारण उन्हें निराशा ही हाथ लगती है। शिंडालको जैसी खनन कम्पनी भी इनका शोषण करती है। इन खनन कम्पनीयों के विरोध में आदिवासियों द्वारा एक जुलूस निकाला जाता है और पूरे पाट के लगभग सभी खदानों का काम सात दिनों तक रोक दिया जाता है। इसके बाद शिंडालको कम्पनी का मैनेजर आता है और अपने छद्म कूटनीति से सारे आन्दोलन को ध्वस्त कर देता है और फिर कई असुर आदिवासियों को गिरफ्तार कर लिया जाता है।

इसके बाद ग्लोबल गाँव में एक नये देवता शिवदास बाबा का जन्म होता है। जो पहले तो इन असुरो की जमानत देता है फिर बाद में वो असुरों को बहकाना शुरू करता है और समाज–सेवा के नाम पर वो आदिवासी युवतियों का रात में सेवा के बहाने उनका शोषण करता है। शिवदास बाबा की ही तरह ग्लोबल गाँव मे दो और देवताओं का जन्म होता है जो इन असुरों को चारो तरफ से लूटने का काम करते हैं। ये सभी आज के ग्लोबल गाँव के देवता हैं। रणेन्द्र बडी सफाई से इन सभी देवताओं के माध्यम से शासन और प्रशासन को न्याय के कठघरे में खड़ा कर देते हैं।

पर्यावरण–प्रकृति की रक्षा की लड़ाई में अखिल भारतीय स्तर पर विभिन्न आन्दोलनों का नेतृत्व महिलाओं के हाथों में देख कर ग्लोबल गाँव का देवता' में उपन्यासकार रणेन्द्र को यह एहसास होता है कि **"धरती भी स्त्री, प्रकृति भी स्त्री, सरना माई भी स्त्री और उसके लिए लड़ाई लडती सत्यभामा, इरोमा शर्मीला , सीके जानू, सुरेख दलबी और यहाँ पाट में बुधनी दी और सहिया ललिता भी स्त्री।**[6]

रणेन्द्र दिखाते हैं कि इन असुरों को किस तरह अपने अस्तित्व को बचाये रखने एवं समाज में बने रहने के लिए आन्दोलन करना पड़ता है। शासन–प्रशासन के सहयोग से वेदांग जैसी कंपनियां इन आदिवासी लोगों को माइंस बिछाकर उड़ा देती है। यह सब देखकर ग्लोबल गाँव का देवता खुश होता है **"जो लड़ाई वैदिक युग में शुरू हुई थी , हजार हजार इंद्र जिसे अंजाम नहीं दे सके थे, ग्लोबल गाँव के देवताओं ने वह मुकाम पा लिया था।**[7]

भूमण्डलीकरण के दौर में शहरी वर्ग की जरूरतों को पूरा करने के लिए सघन पारिस्थितिकी विनाश अनवरत रूप से जारी है। भूमण्डलीकरण के कारण पैदा हुए निजीकरण और अनियंत्रित औद्योगीकरण ने आदिवासियों से उनका सब कुछ छीन लिया है। जो भी इनका विरोध करता है उसे रास्ते से हटा दिया जाता है। यह उपन्यास आज के झारखंड राज्य में हो रहे लूट–पाट के यथार्थ को बखूबी दिखाता है और साथ ही साथ ऐसी स्थिति पैदा होने का जबाब माँगता है।

हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
मोबा. 7503136745

संदर्भः–

1. ग्लोबल गाँव के देवता – रणेन्द्र, तीसरा संस्करण 2016 , पृष्ठ–सं.–11
2. ग्लोबल गाँव के देवता–'रणेन्द्र', तीसरा संस्करण 2016 , पृष्ठ–सं.–12
3. ग्लोबल गाँव के देवता–'रणेन्द्र', तीसरा संस्करण 2016 , पृष्ठ–सं.–20
4. ग्लोबल गाँव के देवता–'रणेन्द्र', तीसरा संस्करण 2016 , पृष्ठ–सं.–38
5. ग्लोबल गाँव के देवता–'रणेन्द्र', तीसरा संस्करण 2016 , पृष्ठ–सं.–13
6. ग्लोबल गाँव के देवता–'रणेन्द्र', तीसरा संस्करण 2016, पृष्ठ–सं.–91–92
7. ग्लोबल गाँव के देवता–'रणेन्द्र', तीसरा संस्करण 2016 , पृष्ठ–सं.–100

सामाजिकता के आईने में तिरस्कृत और शिकंजे का दर्द

– डॉ. सोनम खान

सूरजपाल चौहारन की आत्मकथा तिरस्कृत है, जिसका दूसरा भाग है संतप्त, तिरस्कृत के कई अंश साहित्यिक पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित हए। इस आत्मकथा में लेखक ने कई स्त्रियों का जिक्र किया है। लेखक की मां, मौसी, चमेली, सन्तो ताई, रूसी मैम, बुद्ध के घर में आयी एक स्त्री, श्रीमती शर्मा, विमला (पत्नी), पूनम (बहू), माधुरी (बेटी), धर्मों आदि लेखक तिरस्कृत में काफी संयमित होकर आत्मकथा लिखते हुए दिखते हैं जबकि संतप्त में सारी सीमाओं को तोड़ते हुए उन सीमाओं को भी जो एक साहित्य को साहित्य बने रहने के लिए साथ ही अपनी पत्नी विमला के बारे में भी जिक्र किया है। वहां उनकी भाषा एवं भाव शालीनता को लिए हुए रहते हैं किन्तु संतप्ता में लेखक कई स्त्रीपात्र को रखता है और गिन–गिन कर उनके नकारात्मक पक्षों को उजागर करता है। वह अपनी पत्नी को याद करता है तो बस एक चरित्रहीन औरत के रूप में ही याद करता है। 15 साल के वैवाहिक जीवन में जिस दाम्पत्य जीवन से लेखक को दो संतान भी हुई। क्या उसके जीवन में उसकी पत्नी के साथ कभी मधुर संबंध नहीं रहे होंगे या उसके जीवन में उस औरत का कोई योगदान नहीं रहा होगा, जिसे लेखक याद कर सके। लेकिन सूरजपाल चौहान ने ऐसा कुछ नहीं किया और अपनी पत्नी ही नहीं बल्कि अपनी आत्मकथा की अन्य स्त्री पात्रों को भी खलनायिका के रूप में ही पेश करने की कोशिश की है, अगर उनकी आत्मकथा को व्यापकता के आधार पर विचार किया जाए तो हम पायेंगे कि उनकी प्रत्येक स्त्री पात्र इस सामाजिक कुप्रथा की शिकार हैं 35–40 साल की जिस चमेली मौसी का जिक्र वे एक सेक्सुअल बीमार के रूप में करते हैं और ये दिखाने की कोशिश करते हैं कि विधवा चमेली मौसी अपनी सेक्सुअल तृप्ती के लिए बचपन में उनका शोषण करती है। किन्तु क्या इसे हम यह भारतीय समाज की विडंबना न माने कि कितनी मजबूर होगी वह औरत जिसे अपने बायोलोजिक्ल नीड के लिए एक बच्चे की जरूरत पड़ी होगी। ये चमेली मौसी की नहीं बल्कि भारतीय समाज की उन कुप्रथाओं की त्रासदी हैं, जहां एक विधवा हुई औरत को हम शादी करने की इजाजत नहीं देते। दूसरी तरफ इन्होंने कुछ स्त्री पात्रों का जिक्र किया है, जिसमें संतो ताई आदि हैं इनकी याद भी वे तथाकथित भारतीय समाज की चरित्रहीन नायिकाओं के रूप में ही करते हैं। एक सवर्ण स्त्री की याद भी वे इस रूप में करते हैं कि सवर्ण स्त्रियां तो बस चरित्रहीन ही होती है और उनकी काम भावना को तृप्ति तो बस एक दलित पुरुष ही कर सकता है। अपनी पत्नी विमला को तो मानो चरित्रहीनता का ताज ही पहना देते हैं। आत्मकथा संतृप्त आत्मकथा न होकर विमला कथा बन गयी हैं।

साहित्य के कुछ अपने मानदण्ड होते हैं। तत्कालीन हिन्दी साहित्य की सबसे बड़ी समस्या है साहित्य के मानदण्ड का निर्धारण। आज साहित्य लिखते हुए स्वानुभूति की प्रमाणिकता का दावा करते हुए जिस तरह की अश्लील भाषा का प्रयोग किया जा रहा है निश्चित रूप से यह एक साहित्यिक अराजकता का पहला पड़ाव है। सूरजपाल चौहान की आत्मकथा में निष्पक्षता, तटस्थता का पूर्णतः अभाव है, जो कि आत्मकथा लेखन की पहली शर्त है। इसके विपरीत यदि हम सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा शिकंजे का दर्द की समीक्षा करें तो हम देखेंगे की शिकंजे का दर्द ना केवल भाषा या भाव में साहित्यिक है बल्कि इस आत्मकथा का संवेदनात्मक पहलू भी निरपेक्ष एवं तटस्थ है। अपनी आत्मकथा में सुशीला टाकभौरे पति के द्वारा दिये गये योगदान को भी याद करती है। सुशीला टाकभौरे ने दलित समाज के पितृसत्तात्मक रवैये को स्पष्ट करती हैं 'शिकंजे का दर्द' में सुशीला टाकभौरे दलित होने के संताप का तो उल्लेख करती ही हैं साथ ही एक स्त्री होने के कारण भोगे गये दंश को भी बताती है। सुशीला टाकभौरे के साथ यदि कौसल्या बैसंत्री के दोहरा अभिशाप का भी मूल्यांकन साथ–साथ किया जाए तो दलित समाज का अपनी स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण और

अधिक स्पष्ट हो जाएगा। यह महज एक संयोग नहीं कि हिन्दी दलित साहित्य में दो स्त्री आत्मकथायें आयीं और दोनों में एक ही तरह की समस्या को उठाया गया। दोनों ही स्त्रियां जाति के साथ–साथ लिंगभेद के दंश को भी झेलती हैं। ये दोनों आत्मकथायें पूरे दलित विमर्श के लिए एक चुनौती हैं।

सुशीला टाकभौरे ने भी अपने जातीय शोषण का उल्लेख किया है किन्तु उनकी भाषा हर जगह में एक साहित्यिक शालीनता में बंधी हुई दिखती है। कहीं भी सूरजपाल चौहान की तरह अनावश्यक वर्णन नहीं है। एक घटना का वर्णन करती हैं जिस घर में वे किराये पर रह रही होती है उसकी मालकिन उनकी सास की अचानक देहांत होने पर उसी दिन घर खाली करने के लिए कहती है जिस दिन उनकी सास की मृत्यु होती है और अपनी मृत सास को साथ लेकर तुरंत वहां से घर खाली करना पड़ता है। यहां सुशीला जी ने कहीं भी उस औरत को नहीं कोसा ना ही उनका आक्रोश उस औरता के प्रति रहा बल्कि इस घटना का जिक्र कर वे हमारा ध्यान समाज की उस कुप्रथा की तरफ आकर्षित कराती हैं जिसमें एक दलित की मृत्यु एवं उस मृत्यु पर विलाप को अशुभ माना जाता है। इस घटना के जिक्र के पीछे जातीय शोषण का उद्घाटन करने का उनका ध्येय रहा है। एक स्थान पर एक गैर दलित पडोसन की चर्चा करती है जो उनके दलित होने का मजाक उड़ाती है, उनके एक शिक्षक होने के बावजूद झाड़ूवाली कहकर ही संबोधित करती है और वही औरत अपने पति की अनुपस्थिति में किसी अन्य पुरुष के साथ संबंध बनाती है। किन्तु इस घटना का जिक्र भी सुशीला जैसा की मानवीय स्वभाव है जैसे को तैसा के अनुसार करती हैं अर्थात् वह औरत उनके दलित होने पर उंगली उठाती है तो बदले में सशीला टाकभौरे उस स्त्री के चरित्र पर उंगली उठाती है किन्तु, यह महज प्रतिशोध युक्त आवेशमात्र होता है यहां भी उनका ध्येय उस स्त्री को चरित्रहीन घोषित करना नहीं है। इस तरह हम यहां एक ही जाती के दंश से पीडित स्त्री–पुरुष की संवेदना में फर्क देख सकते हैं।

सूरजपाल चौहान अपनी आत्मकथा लिखते हुए अपने तमाम तरह के भोगे गये जातीय कष्टों और गरीबी का उल्लेख करते हैं और सुशीला टाकभौरे अपनी आत्मकथा लिखते हुए जातीय पीड़ा और गरीबी का तो उल्लेख किया ही है साथ ही जो सबसे बड़ी पीड़ा है वह है स्त्री होने की पीड़ा अर्थात् इस समाज में स्त्री दोहरे दर्द को झेलती है। एक दर्द जो समाज से मिलता है, दलित और गरीब होने के लिए, दूसरा दर्द जो स्त्री होने के लिए मिलता है। सुशीला टाकभौरे के साथ–साथ यदि कौशल्या वैसंत्री के जीवन को भी देखा जाए तो दलित पुरुष समाज की विडंबनाएं अधिक अच्छे तरीके से स्पष्ट हो जाती हैं। हर एक पुरुष को बनाने में कहीं न कहीं स्त्री का एक बहुत बड़ा योगदान होता है। तिरस्कृत का जिक्र यहां इसीलिए भी लेना पड़ा क्योंकि सूरजपाल चौहान ने अपनी पत्नी पर जो आरोप लगाये हैं वह आरोप या इनका व्यवहार कौशल्या वैसंत्री और सुशीला टाकभौरे के पतियों से अलग नहीं है। इन दोनों आत्मकथाओं में जो समस्या है वह है स्त्री–पुरुष संबंधों की समस्या।

House no. 323, Street No. 5, New Kardampuri,
Delhi - 110094M. No 9910293363

संदर्भः–

सूरजपाल चौहान – तिरस्कप्त, संत्पत, अरूणोदय प्रकाशन, नई दिल्ली–110002

सुशीला टाकभौरे – शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–110002

कौशल्या वैसंत्री–दोहरा अभिशाप परमेश्वरी प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण – 1999

Uma Chakravarti&Gendring Caste (theorizing feminism) printed at spectra Graphics] 34 Canal South road] Kolkat–700015

एम. एन. श्रीनिवास–आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली संस्करण– 1991

अनिता भारती, बजरंग बिहारी तिवारी– यथास्थिति से टकराते हुए (दलित स्त्री जीवन से जुड़ी कहानिया) लोकमित्र प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली

" विद्या बिना मति गई,
मति बिना नीति गई।
नीति बिना गति गई,
गति बिना गया वित्त।
वित्त के बिना चरमराए शूद्र ,
एक अविद्या ने किए इतने अनर्थ। "

-महात्मा ज्योतिबा फुले

" शिक्षित बनो, संगठित रहो, संघर्ष करो "

- बाबा साहेब डॉ. अम्बेडकर

- शिक्षा जीवन के लिए है, जीवन व्यस्त है, यह जिनके मन में दृढ़ हो गया हो वही स्वयंभू शिक्षक है । शिक्षा के सिद्धांत शिक्षा के विषय और शिक्षा की पद्धतियाँ यह सब जीवन के लिए है, जीवन को सार्थक, समृद्ध और सफल करने के लिए है।

- हमें समझना चाहिए कि जहाँ धर्म सुधार सफल नहीं होता, जहाँ स्मृतियाँ काम नहीं कर सकती, जहाँ औद्योगिक आंदोलन पंगु साबित होता है, जहाँ सामाजिक सुधार निष्प्राण मालूम होता है और राजनीतिक आन्दोलन थक जाता है, वहाँ आखिर शिक्षा ही सहायक होती है। जब तमाम उपाय हार जाते है तब सच्ची शिक्षा राष्ट्र व समाज के लिए संजीवनी रुप हो जाती है।

पंजीयन संख्या
RNI No. MPHIN/2002/9510

डाक पंजीकृत क्रमांक मालवा डिवीजन/204/2021-2023 उज्जैन (म.प्र.)

प्रतिष्ठा में ,

पत्र व्यवहार का पता :
20, बागपुरा, सांवेर रोड,
उज्जैन 456 010 (म.प्र.)

प्रकाशक, मुद्रक पिंकी सत्यप्रेमी ने भारती दलित साहित्य अकादमी की ओर से मालवा ग्राफिक्स, 29, वररुचि मार्ग, गुरुद्वारे के सामने, फ्रीगंज, उज्जैन फोन : 0734-4000030 से मुदित एवं 20, बागपुरा, सांवेर रोड, उज्जैन 456 010 (म.प्र.) फोन : 0734-2518379 से प्रकाशित।

सम्पादक : डॉ. तारा परमार